परमार्थ वचनिका प्रवचन

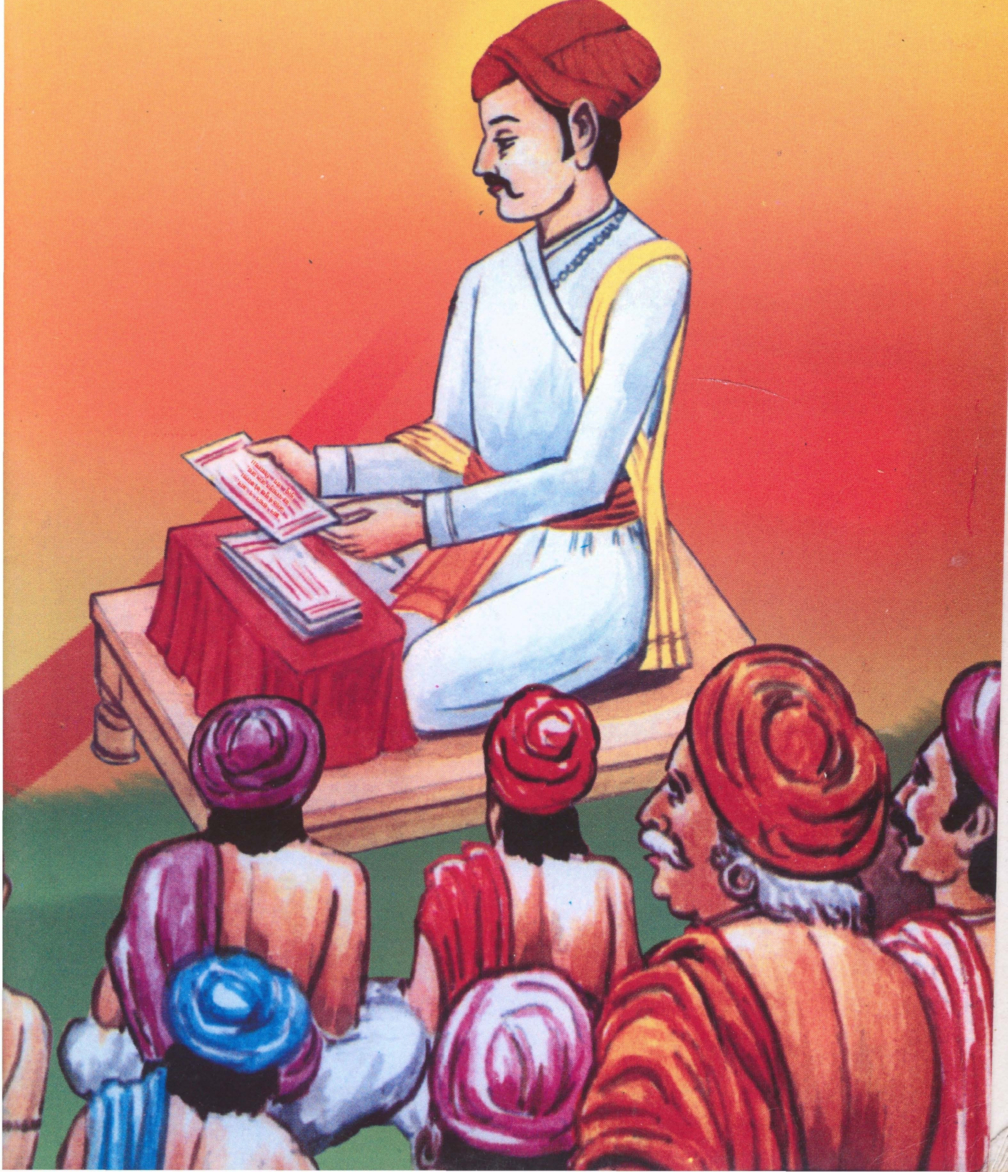

सत्साहित्य प्रकाशन ब्यूरो का छठवाँ पुष्प

परमार्थवचनिका प्रवचन

आध्यात्मिक कविवर पण्डित श्री बनारसीदासजी द्वारा रचित
परमार्थवचनिका पर हुए पूज्य गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी
के प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद

सम्पादक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

एवं

डॉ. राकेश जैन शास्त्री

अनुवादक :

वैद्य गम्भीरचन्द जैन, अलीगंज

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम तीन संस्करण : 9 हजार 200
(26 जनवरी, 1983 से अद्यतन)
चतुर्थ संस्करण : 2 हजार
(7 मई, 2008)
श्री कानजीस्वामी जयन्ती
योग : **11 हजार 200**

मूल्य : आठ रुपए

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कंप्यूटर्स
ए-4, बापूनगर,
जयपुर-302015

मुद्रक :
प्रिन्टो 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

विषय सूची

क्र.		पृष्ठ सं.
●	प्रकाशकीय	3
●	पण्डित बनारसीदास परिचय	5
1.	संसारावस्थित जीव की अवस्था	9
2.	जीव की अनन्त अवस्थाएँ	20
3.	संसारावस्था के तीन व्यवहार	27
4.	आगम अध्यात्म पद्धति की अनंतता	40
5.	आगम अध्यात्म के ज्ञाता	47
6.	ज्ञानी और अज्ञानी	54
7.	सम्यग्दृष्टि द्वारा मोक्ष पद्धति की साधना	61
8.	मोक्षमार्ग की सरस बात	65
9.	ज्ञाता का मिश्र व्यवहार	69
10.	हेय ज्ञेय उपादेयरूप ज्ञाता की चाल	75
11.	अध्यात्म पद्धतिरूप स्वाश्रित मोक्षमार्ग	88
12.	उपसंहार	94

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1.	श्री मनोजकुमार राजकुमारजी बिलाला, बड़नगर	1,101.00
2.	श्री ज्ञानचन्दजी अजमेरा, बड़नगर	1,101.00
3.	श्री रमेशचन्दजी पाटनी, इन्दौर	1,001.00
4.	श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	1,000.00
5.	श्री भागचन्दजी काला, बड़नगर	1,000.00
	कुल योग	**5,203.00**

प्रकाशकीय

जैन जगत के दैदीप्यमान नक्षत्र कविवर पण्डित बनारसीदासजी द्वारा रचित परमार्थवचनिका पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का संकलन प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है।

जैन साहित्य-गगन लगभग दो हजार वर्षों से अनेक दिगम्बर सन्तों एवं ज्ञानी गृहस्थ-विद्वानों द्वारा आलोकित होता रहा है, जिनमें कविवर पण्डित बनारसीदासजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रस्तुत कृति कवि की गम्भीर एवं प्रौढ़ गद्य रचना है, जिसमें आगम और अध्यात्मपद्धति से जीवद्रव्य की अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन है। संसारी जीव की विभिन्न अवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में जीव के परमार्थस्वरूप का एवं स्वसत्तावलम्बनशाली ज्ञान का वर्णन इस कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

आत्मानुभवी सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्रीकानजी स्वामी, इस युग में आचार्य कुन्दकुन्द आदि दिगम्बर सन्तों एवं आत्मज्ञानी विद्वानों द्वारा लिपिबद्ध जिनवाणी के सरलतम व्याख्याकार हो गए हैं। उनके अन्तर्मुखी पुरुषार्थप्रेरक प्रवचनों के माध्यम से लाखों जीव, वस्तु का परमार्थस्वरूप जानकर परमार्थ मोक्षमार्ग प्रगट करने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। निश्चय-व्यवहार की सन्धिपूर्वक जिनागम का मर्म समझाकर, उन्होंने बाह्य क्रियाकाण्ड को ही परमार्थ-मोक्षमार्ग माननेवाले मूढ़ जगत को झकझोर कर परमार्थतत्त्व को समझने का दुर्लभ अवसर प्रदान करके, हम सब पर अनन्त उपकार किया है। उनके सातिशय प्रभावना-योग से सम्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप जनसाधारण में परमार्थ तत्त्व का स्वरूप समझने की क्षमता एवं तद्रूप परिणमन की प्रेरणा प्रस्फुटित हुई है।

परमार्थवचनिका पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन गुजराती भाषा में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित 'अध्यात्म संदेश' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुए हैं; जिनका हिन्दी अनुवाद, हिन्दी आत्मधर्म के अगस्त, 1981 अंक से दिसम्बर 1982 अंक तक में प्रकाशित हुआ है। किस्तों में प्रकाशित प्रवचनों के पुस्तकाकार-संकलन से पाठकों को प्रस्तुत कृति के आद्योपान्त

एवं तलस्पर्शी अध्ययन का लाभ मिल सकेगा – इस भावना से प्रेरित होकर इसका पुस्तकाकार प्रकाशन किया गया है। इसमें मूलग्रन्थ का अंश ब्लैक इटैलिक टाइप में है।

इन प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद अलीगंज निवासी एवं स्व. वैद्य गम्भीरचन्दजी ने निःस्वार्थ भाव से किया है।

लोकप्रिय प्रवचनकार एवं सशक्त लेखनी के धनी डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल एवं डॉ. राकेश जैन शास्त्री ने इन प्रवचनों का सम्पादन आत्मधर्म में प्रकाशित होने के समय ही कर दिया था। प्रस्तुत संस्करण को आकर्षक कलेवर में प्रकाशित करने का श्रेय प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल को एवं प्रूफ रीडिंग श्री सौभाग्यमलजी जैन एवं श्री धर्मेन्द्रकुमारजी शास्त्री को जाता है। एतदर्थ हम अनुवादक, सम्पादक, मुद्रण तथा अन्य सभी सहयोगियों का हार्दिक आभार मानते हैं।

सभी पाठक प्रस्तुत कृति के अध्ययन द्वारा परमार्थतत्त्व की अनुभूति हेतु प्रयत्नशील हों – यही मंगल कामना है।

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.
प्रकाशन मंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

पण्डित बनारसीदासजी

संक्षिप्त परिचय

अध्यात्म और काव्य - दोनों क्षेत्रों में सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त महाकवि पण्डित बनारसीदासजी सत्रहवीं शताब्दी के रससिद्ध कवि और आत्मानुभवी विद्वान् थे। आपका जन्म श्रीमाल वंश में लाला खरगसेन के यहाँ वि. सं. १६४३ में माघ सुदी, एकादशी, रविवार को जौनपुर में हुआ था। उस समय इनका नाम विक्रमजीत रखा गया था। बालक विक्रमजीत जब छह-सात माह के थे, तब उनके पिता सकुटुम्ब बनारस की यात्रा को गए। वहाँ के पुजारी ने स्वप्न की बात कहकर बालक का नाम बनारसीदास रखने को कहा और तब से विक्रमजीत बनारसीदास कहलाने लगे।

आपने अपने जीवन में जितने उतार-चढ़ाव देखे, उतने शायद ही किसी महापुरुष के जीवन में आये हों। पुण्य और पाप का ऐसा सहज संयोग अन्यत्र विरल है। जहाँ एक ओर उनके पास चाट खाने के लिये भी पैसे नहीं रहे, वहीं दूसरी ओर वे कई बार लखपति भी बने। उनका व्यक्तित्व जहाँ एक ओर शृंगार में सराबोर एवं आशिकी में रस-मग्न दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर पावन अध्यात्म-गंगा में स्नान करता दृष्टिगत होता है। जहाँ एक ओर वे रूढ़ियों में जकड़े एवं मंत्र-तंत्र के घटाटोप में आकण्ठ डूबे दीखते हैं, तो दूसरी ओर उन्हीं का जोरदार खण्डन करते दिखाई देते हैं।

उन्होंने आठ वर्ष की उम्र में पढ़ना प्रारम्भ किया और नौ वर्ष की उम्र में सगाई तथा ग्यारह वर्ष की उम्र में शादी हो गयी। पुण्य-पाप के विचित्र संयोग ने कवि को यहाँ भी नहीं छोड़ा। जिस दिन वे शादी करके लौटे, उसी दिन उनकी बहिन का जन्म तथा नानी का मरण एक साथ हुआ।

उन्होंने तीन शादियाँ की तथा उनके सात पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं, पर एक भी सन्तान जीवित नहीं रही। कविवर ने स्वयं अपनी अन्तर्वेदना का वर्णन अर्द्धकथानक में निम्न शब्दों में किया है :-

तीनि विवाहीं भारया, सुता दोइ सुत सात॥६४२॥
नौ बालक हुए मुए, रहे नारि-नर दोइ।
ज्यों तरुवर पतझर ह्वै, रहैं ठूंठ से होइ॥६४३॥

काव्य-प्रतिभा तो आपको जन्म से ही प्राप्त थी। १४ वर्ष की उम्र में आप उच्चकोटि की कविता करने लगे थे, पर प्रारम्भिक जीवन में शृंगारिक कविताओं में मग्न रहे। इनकी सर्वप्रथम कृति 'नवरस' १४ वर्ष की उम्र में तैयार हो गई थी, जिसमें अधिकांश शृंगार रस का ही वर्णन था – इस रस की यह एक उत्कृष्ट कृति थी, जिसे विवेक जागृत होने पर कवि ने गोमती नदी में बहा दिया था।

वि. सं. १६८० में ३७ वर्ष की अवस्था में उनके धार्मिक जीवन में नई क्रान्ति हुई। उन्हें अरथमलजी ढोर का संयोग मिला और उन्होंने आपको पाण्डे राजमलजी द्वारा लिखित समयसार के कलशों की बालबोधिनी टीका पढ़ने की प्रेरणा ही नहीं दी, बल्कि ग्रन्थ भी सामने रख दिया। बनारसीदासजी उसको पढ़कर बहुत प्रभावित हुए; किन्तु उसका मर्म तो जान नहीं पाये और स्वच्छन्द हो गये।

कवि की यह दशा बारह वर्ष तक रही। इसी बीच कवि ने बहुत-सी कवितायें लिखीं, जो बनारसी-विलास में संगृहीत हैं। कवि ने उनकी प्रामाणिकता के बारे में लिखा है कि यद्यपि उससमय मेरी दशा निश्चयाभासी स्वच्छन्दी-एकान्ती जैसी हो गई थी; तथापि जो कुछ उससमय लिखा गया, वह स्याद्वाद-वाणी के अनुसार ही था। आप स्वयं भी लिखते हैं :–

सोलह सै बानवै लौं, कियौ नियत रसपान।
पै कवीसुरी सब भई, स्याद्वाद परवान॥६२८॥

इसके बाद अनायास ही आगरा में पण्डित रूपचन्दजी पाण्डे का आगमन हुआ और उनकी विद्वता से प्रभावित होकर पण्डित बनारसीदासजी अपने सभी अध्यात्मी साथियों सहित उनका प्रवचन सुनने गये, जिसमें उन्होंने गोम्मटसार ग्रन्थ का वाचन करते हुए गुणस्थान अनुसार सम्यक्-आचरण का विवेचन

किया। निश्चय-व्यवहार का स्वरूप भी सही-सही समझाया और कवि को उनके निमित्त से ही स्याद्वाद का सच्चा ज्ञान, सत्य की प्राप्ति और आत्मा का अनुभव हुआ।

इसके बाद कविराज का चित्त स्थिर और शान्त हो गया। वे जो पाना चाहते थे, उन्हें वह मिल गया था। उन्होंने यह दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लिया था कि सत्य पन्थ 'निर्ग्रन्थ दिगम्बर' ही है। अध्यात्म चिंतन-मनन के साथ-साथ उन्होंने साहित्य निर्माण एवं शिथिलाचार के विरुद्ध शुद्ध अध्यात्म मार्ग का प्रचार व प्रसार भी तेजी से आरम्भ कर दिया था। उनके द्वारा रचित 'नाटक समयसार' की चर्चा घर-घर में होने लगी थी। गली-गली में लोग उसके छन्द गुनगुनाया करते थे।

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' एक महान् क्रान्तिकारी आध्यात्मिक ग्रन्थराज है। उसके निमित्त से लाखों लोग समय-समय पर सत्य पन्थ में लगे हैं। महाकवि बनारसीदास के ठीक तीन सौ वर्ष बाद एक और श्वेताम्बर साधु 'कानजी मुनि' इसके निमित्त से दिगम्बर धर्म की और आकर्षित ही नहीं हुए, वरन् उनके माध्यम से अध्यात्म के क्षेत्र में आज एक महान क्रान्ति उपस्थित हो गई है। इसकारण आज वे दिगम्बर समाज में 'अध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी' के नाम से जाने-माने जाते हैं।

तत्समय पण्डित बनारसीदासजी का बढ़ता प्रभाव न तो श्वेताम्बरों को ही सुहाया और न ही भट्टारकपन्थी शिथिलाचारी दिगम्बरों को। अतः दोनों ओर से बनारसीदासजी द्वारा संचालित आध्यात्मिक क्रान्ति का विरोध हुआ।

श्वेताम्बराचार्य महामहोपाध्याय मेघविजय ने तो उसके विरोध में **'बनारसी-मत खण्डन (युक्ति प्रबोध)'** नामक ग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका सहित लिखा। पर ज्यों-ज्यों, विरोध ने तेजी पकड़ी, त्यों-त्यों यह आध्यात्मिक-पन्थ, जिसे बाद में तेरापन्थ भी कहा गया, फलता-फूलता गया और आगे चलकर उस युग के महान् विद्वान् पण्डित टोडरमलजी का सहारा पाकर देशव्यापी हो गया।

कविवर बनारसीदासजी की उपलब्ध पद्य रचनायें चार हैं। **बनारसी विलास, नाम माला, अर्द्धकथानक और नाटक समयसार**। इसके अतिरिक्त उनकी परमार्थवचनिका और उपादान निमित्त की चिट्ठी नामक दो अत्यन्त गम्भीर एवं मार्मिक गद्य रचनायें भी उपलब्ध हैं, जो छोटी होने के कारण स्वतंत्र रूप से मुद्रित न होकर मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ के साथ ही मुद्रित की गई हैं।

वे अपने युग के महान् क्रान्तिकारी विचारक थे, मात्र भावुक कवि नहीं। रससिद्ध कवि होने के कारण उनका हृदय कम भावुक नहीं है, पर भावुकता में विचार पक्ष कमजोर नहीं पड़ने पाया है।

जैन अध्यात्म के क्षेत्र में तो पण्डित बनारसीदासजी को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है ही, हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी उनका योगदान संदिग्ध नहीं। आवश्यकता मात्र साहित्यिक उपादानों की दृष्टि से उनके साहित्य का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करने की है।

कविवर का देहोत्सर्ग काल तो अविदित ही है,किन्तु तत्सम्बन्ध में एक किंवदन्ति प्रसिद्ध है कि अन्तकाल में उनका कण्ठ अवरुद्ध गया था, अतः वे बोल नहीं सकते थे; पर वे ध्यानमग्न और चिन्तनरत अवश्य थे। उस समय समीपस्थ लोगों में इस प्रकार चर्चा होने लगी कि कवि के प्राण माया व कुटुम्बियों में अटके हैं, उनकी आशंका के निवारणार्थ उन्होंने अपने जीवन का अन्तिम छन्द निम्न प्रकार से लिखा :-

ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना,
प्रगट्यौ रूप स्वरूप, अनन्त सु सोहना।
जा परजै को अन्त, सत्यकरि मानना,
चलै बनारसीदास, फेर नहिं आवना।।

इसी प्रकार हम भी अपने जीवन में ज्ञान और वैराग्य की ज्योति जलाकर अपने जीवन-रथ को आलोकित करें – यही भावना है।

●

१

संसारावस्थित जीव की अवस्था

एक जीवद्रव्य, उसके अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें, एक-एक गुण के असंख्यात प्रदेश, एक-एक प्रदेश में अनन्त कर्मवर्गणाएँ, एक-एक कर्मवर्गणा में अनन्त-अनन्त पुद्गलपरमाणु, एक-एक पुद्गलपरमाणु अनन्त गुण व अनन्त पर्यायसहित विराजमान।

यह एक संसारावस्थित जीवपिण्ड की अवस्था। इसी प्रकार अनन्त जीवद्रव्य सपिण्डरूप जानना। एक जीवद्रव्य अनन्त-अनन्त पुद्गलद्रव्य से संयोगित (संयुक्त) मानना।

यह जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव के शासन की बात है। जगत में स्वतंत्ररूप से अनन्त जीव, जीव की अपेक्षा अनन्तगुने पुद्गलद्रव्य, एक-एक जीव में और एक-एक पुद्गलपरमाणु में अपने-अपने अनन्त गुण और उनका परिणमन - यह सब भगवान सर्वज्ञदेव के अतिरिक्त अन्य कोई जानने में समर्थ नहीं; अतः सर्वज्ञदेव के जैनशासन के अलावा कहीं भी ऐसी बात नहीं हो सकती। अधिकांश जीव तो जीव की स्वतंत्र सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते; वे तो ऐसा मानते हैं कि किसी ईश्वर ने इस जीव को बनाया है अथवा सब मिलकर अद्वैत है, परन्तु उन्होंने एक-एक जीव की पूर्ण सत्ताको स्वीकार नहीं किया और स्व व जगत के अन्य जीवों की सत्ता को पराधीन और अपूर्ण माना।

भाई! जो जीव आत्मा का पूर्ण अस्तित्व ही न माने, वह उसकी पूर्णदशा को कैसे साध सकेगा? अतः सर्वप्रथम भगवान सर्वज्ञदेव के कथनानुसार जगत में सर्व अनन्त जीवों का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकारना

चाहिए तथा उन्हें अनन्त गुणों से परिपूर्ण मानना चाहिये। इसमें भी जिसकी भूल हो उसकी आत्मा में परमार्थ के सच्चे विचार का उदय ही नहीं हो सकता; इसलिए प्रथम में प्रथम इस बात की उद्घोषणा की है।

जगत में अनन्त जीव भिन्न-भिन्न हैं। एक-एक जीवद्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं। एक-एक की मिलाकर प्रतिसमय अनन्त पर्यायें हैं अर्थात् अनन्त गुणों की प्रतिसमय एक-एक पर्याय उत्पन्न होती है, इसलिए एक समय में सब मिलाकर अनन्त पर्यायें हैं। एक-एक गुण के असंख्य प्रदेश हैं, जितने जीव द्रव्य के प्रदेश हैं, उतने ही प्रत्येक गुण के प्रदेश हैं – इसप्रकार यहाँ जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय बताए गये हैं।

संसारी जीव के एक-एक प्रदेश पर अनन्त कर्मवगर्णाएँ हैं, जिनमें अनन्तान्त पुद्गलपरमाणु हैं और वे भी अनन्त गुण-पर्यायों सहित विराजमान हैं – ऐसी प्रत्येक संसारी जीव की स्थिति है।

इस लोक में सिद्ध जीवों की संख्या अनन्त है और सिद्ध जीवों से अनन्तगुणे संसारी जीव हैं। भाई! आलू इत्यादि कन्दमूल के छोटे से छोटे टुकड़े में भी असंख्यात औदारिक शरीर और एक-एक शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे निगोदिया जीव हैं। यद्यपि निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त प्रत्येक संसारी जीव का अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्यों के साथ संयोग है तथापि प्रत्येक जीव द्रव्य व पुद्गल परमाणु पृथक्-पृथक् परिणमन कर रहे हैं। एक द्रव्य भी अन्य किसी द्रव्य से मिलकर एकमेक नहीं हुआ है।

भाई! ये अनन्त जीवराशि, अनन्तानन्त, पुद्गलपरमाणु और उनके अनन्त गुण-पर्यायों को एक साथ देखने-जानने की सामर्थ्य सर्वज्ञस्वभावी अपनी आत्मा में हैं; अतः अपनी आत्मा पर लक्ष्य देना चाहिए। अहो! ऐसी वस्तुस्वरूप की बात जैनशासन के अतिरिक्त अन्य कहाँ है? अर्थात् है ही नहीं।

अब जीव और पुद्गल की भिन्न-भिन्न परिणति का विचार करते हैं :–

उसका विवरण – अन्य-अन्यरूप जीवद्रव्य की परिणति, अन्य-अन्यरूप पुद्गल द्रव्य की परिणति।

उसका विवरण – एक जीव द्रव्य जिसप्रकार अवस्था सहित नाना आकाररूप परिणमित होता है, वह अन्य जीव से नहीं मिलता; उसका और प्रकार है। इसीप्रकार अनंतानंतस्वरूप जीव द्रव्य अनंतानंतस्वरूप अवस्था सहित वर्त्त रहे हैं। किसी जीवद्रव्य के परिणाम किसी अन्य जीव द्रव्य से नहीं मिलते। इसीप्रकार एक पुद्गलपरमाणु एक समय में जिसप्रकार की अवस्था धारण करता है, वह अवस्था अन्य पुद्गलपरमाणु द्रव्य से नहीं मिलती; इसलिए पुद्गल द्रव्य की अन्य-अन्यता जानना।

मुक्तावस्था में तो जीव और पुद्गल की परिणति भिन्न ही है; परन्तु संसारावस्था में जीव और पुद्गल का संयोग होने पर भी दोनों की परिणति भिन्न ही है; कोई एक दूसरे की परिणति में हस्तक्षेप नहीं करता।

संसारावस्था में किन्हीं भी दो जीवों की परिणति सर्वप्रकार से नहीं मिलती, कुछ न कुछ भिन्नता होती ही है। सिद्धदशा में तो सभी गुण सादृश्य को प्राप्त होते हैं; किन्तु संसारदशा तो उदयभाव है, वहाँ जिसप्रकार एक जीव अनेक गुणों की अनेक पर्यायरूप परिणमन करता है। उसीप्रकार अन्य जीव सर्वथा परिणमन नहीं करता; अर्थात् **दो संसारी जीवों की परिणति कभी सर्वथा समान नहीं होती। यद्यपि केवलज्ञानादि में तो किसी अपेक्षा से सादृश्य होता भी है; परन्तु औदयिकभावों में कभी भी सादृश्य नहीं होता, किसी न किसी प्रकार की विशेषता या भिन्नता अवश्य होती है।**

जिसप्रकार जीवों की अवस्था भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, उसीप्रकार उनके निमित्तरूप पुद्गलकर्म की अवस्था में भी विभिन्नता होती है। किन्हीं दो परमाणुओं की अवस्था भी सर्वप्रकार से एक दूसरे से मिलती नहीं है।

देखो तो सही! कैसा वस्तु का स्वभाव है? एक ही शरीर में अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, यद्यपि उन सबका शरीर एक ही है; तथापि परिणति सबकी भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक की परिणति में कुछ न कुछ विविधता है। एक ही शरीर में रहनेवाले अनन्त-निगोदिया जीवों में भी कोई भव्य है, तो कोई अभव्य। अनन्त भव्य जीवों में भी कोई अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं, कोई बहुत काल बाद मोक्ष जानेवाले हैं और कोई ऐसे भी होते हैं कि अनन्तकाल बाद भी मोक्ष प्राप्त न करें।

संसारी जीवों की ऐसी परिणति का ज्ञान वीतरागता उत्पन्न होने में कारण हैं; क्योंकि जगत के जीव और पुद्गल अपने-अपने स्वभाव से ही विविध परिणतिवाले हैं, इसमें दूसरे का क्या हस्तक्षेप हैं?

यहाँ प्रश्न है कि द्रव्यस्वभाव से सभी जीव सदृश होने पर भी उनकी परिणति में विशेष अन्तर क्यों हैं? उसका उत्तर इसप्रकार है कि द्रव्य ही इस भाँति परिणमित हुआ है, इसमें अन्य द्रव्य का कर्तृत्व रंचमात्र भी नहीं है। जो ज्ञाता होता है, वही इसप्रकार वस्तु के स्वभाव को जानता है। अज्ञानी जीव तो कर्त्ताबुद्धि का मोह करता है। जीव चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, उसकी कर्तृत्वसीमा तो यही है कि वह चाहे तो ज्ञानपरिणति को करे अथवा मोहपरिणति को करे; परन्तु कोई भी पर में तो रंचमात्र भी परिणमन नहीं कर सकता।

जीव और पुद्गल का स्वतंत्र परिणमन है और यही जगत की वस्तुस्थित है। **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** – यह जैनदर्शन का मूल सिद्धान्त है। **प्रत्येक पदार्थ अपने से ही है, दूसरा उसका कारण नहीं है। परमाणु भी अपने स्वभाव सामर्थ्य से भरपूर जड़ेश्वर है। दो परमाणुओं की अवस्था सर्वथा एकरूप नहीं हो सकती।** दो परमाणुओं का आकार भले ही समान हो; परन्तु स्पर्श-रस-गंध-वर्णादि अनन्त गुणों की परिणति में कुछ न कुछ असमानता अवश्य होगी ही। इसप्रकार संसार में प्रत्येक जीव या पुद्गल की अवस्था में कुछ न कुछ असमानता

अवश्य होगी। इस समस्त व्याख्या से यह बात सूचित होती है कि प्रत्येक द्रव्य के परिणमन की अत्यन्त स्वतंत्रता है।

यहाँ परमार्थवचनिका में संसारावस्था में स्थित जीवों के परिणमन की विचित्रता की व्याख्या चल रही है। भगवान सर्वज्ञदेव के द्वारा जाना हुआ यह अलौकिक विज्ञान है। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञान की सामर्थ्य सभी जीवों की समान है; परन्तु औदयिकभावों में भिन्नता है। किन्हीं भी संसारी जीवों के परिणाम सर्वप्रकार से सदृश्यता को धारण नहीं करते – ऐसा ही वस्तु का अहेतुक स्वभाव है। यद्यपि द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा शुद्धनय से सभी जीव समान हैं। सभी जीव अनादिकाल से वर्तमान तक परिणमन करते आये हैं; तथापि कोई सिद्ध – कोई संसारी, कोई सर्वज्ञ – कोई अल्पज्ञ, कोई वीतरागी – कोई रागी, कोई ज्ञानी – कोई अज्ञानी; अरे! छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के परिणामों में भी विचित्रता है; छठवें गुणस्थान में ही किसी को चार, किसी को तीन और किसी को दो ही ज्ञान होते हैं; विचित्रता तो यहाँ तक है कि दो ज्ञानवाला भी कदाचित् चार ज्ञानवाले से पहले ही केवलज्ञान प्राप्त कर ले। कोई जीव केवलज्ञान होने के बाद किंचित् न्यून कोटिपूर्व तक अर्हन्तपद में ही विचरण करे एवं कोई जीव बहुत समय बाद अर्हन्तपद प्राप्त करे और अन्तर्मुहूर्त में ही सिद्धदशा प्राप्त कर लेवे। संसारी जीवों के परिणामों में इसीप्रकार अनेकानेक विचित्रतायें हैं।

विभावरूप परिणमन की योग्यता भी प्रत्येक द्रव्य की भिन्न-भिन्न होती है। यह बात जीव तथा पुद्गल – दोनों में लागू पड़ती है। देखो! स्वभाव की अपेक्षा तो अनन्तजीव समान हैं; किन्तु विभाव की अपेक्षा नहीं। इसीप्रकार परमाणु भी जब विभावरूप अर्थात् स्कंधरूप परिणमित होता है, तब भी प्रत्येक परमाणु की भिन्न-भिन्न योग्यता होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि जगत में अनन्त जीवों की सत्ता भिन्न-भिन्न नहीं है, सब मिलकर एक ही अद्वैतब्रह्म है; किन्तु यहाँ तो सर्वज्ञ भगवान परमेश्वरदेव कहते हैं कि जगत में अनन्त जीवों की पृथक्-पृथक् सत्ता है और प्रत्येक के परिणाम भिन्न-भिन्न, विचित्रता सहित हैं – कितना भारी अन्तर हैं? जो अपना परिपूर्ण सर्वसम्पन्न स्वतंत्र अस्तित्व न माने, वह परिपूर्णता को कैसे प्राप्त कर सकेगा? प्रत्येक जीव का स्वतंत्र अस्तित्व, परिणाम की अनन्त प्रकार की विचित्रता और उस विचित्रता में निमित्तरूप कर्मों की भी अनन्त विचित्रता यह सब भगवान सर्वज्ञदेव के शासन के अलावा अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

परिणामों की विचित्रता के इस प्रसंङ्ग में **प्रश्न है** कि जब प्रत्येक संसारी जीव के परिणामों में विचित्रता है तथा संसार में किन्हीं दो जीवों के परिणाम सर्वप्रकार से समान नहीं होते हैं तो अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रसङ्ग में यह क्यों कहा जाता है कि इस गुणस्थान में सभी जीवों के परिणाम समान ही होते हैं?

इस प्रश्न का **उत्तर यह है** कि चारित्र सम्बन्धी परिणामों की शुद्धता की अपेक्षा ही वहाँ समानता कही है, तथा वहाँ भी अन्य सभी परिणामों की अपेक्षा समानता नहीं जाननी चाहिए। ज्ञानादि अन्य परिणामों तथा अघातिकर्मों सम्बन्धी दूसरे अनेक भावों में वहाँ भी विचित्रता है, भिन्नता है। इसी गुणस्थान में किसी जीव को चार, किसी को तीन और किसी को दो ही ज्ञान होते हैं। किसी जीव की अल्पायु, किसी की दीर्घायु, किसी जीव की एक धनुष की और किसी की पाँच सौ धनुष की अवगाहना होती है; तथा कोई एकावतारी, कोई तद्भव मोक्षगामी और कोई अर्द्धपुद्गल परावर्तन तक भ्रमण करने वाला भी हो सकता है – इसप्रकार अनेक प्रकार की विचित्रता होती है। संसार में किन्हीं दो जीवों के परिणामों में कदाचित् किसी विशिष्ट प्रकार की अपेक्षा तो समानता हो सकती है; परन्तु सर्वप्रकार से समानता कभी नहीं होती।

सर्वज्ञकथित जिनमार्ग में जिसे आस्था हो, उसी के हृदय में यह बात जम सकती है। इस वचनिका के अन्त में पं. बनारसीदासजी स्वयं कहते हैं कि यह वचनिका यथायोग्य सुमति-प्रमाण केवलीवचनानुसार है। जो जीव इसे सुनेगा, समझेगा तथा श्रद्धान करेगा, उसका यथायोग्य भाग्यानुसार कल्याण होगा।

'केवलीवचनानुसार' कहने का तात्पर्य यह है कि इसे समझने के लिए केवली भगवान की श्रद्धा होना परम आवश्यक है। जिसको केवली भगवान सर्वज्ञदेव की श्रद्धा नहीं है, उसे यह परमार्थवचनिका भी समझ में नहीं आ सकती।

संसार में अनन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु हैं; सभी अपने-अपने गुण-पर्यायों सहित विराजमान हैं तथा प्रत्येक के परिणाम भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। किसी के भी परिणाम अन्य के साथ समानता नहीं रखते – यह सिद्धान्त बतलाया।

अब उन जीव और पुद्गलों की भिन्न-भिन्न अवस्था का विशेष वर्णन करते हैं :–

अब, जीव द्रव्य पुद्गल द्रव्य एकक्षेत्रावगाही अनादिकाल के हैं। उनमें विशेष इतना कि जीवद्रव्य एक, पुद्गलपरमाणु द्रव्य अनन्तानन्त, चलाचलरूप, आगमनगमनरूप, अनंताकार-परिणमनरूप, बन्ध-मुक्ति शक्ति सहित वर्तते हैं।

जगत में जीव और पुद्गलकर्मवर्गणाओं का अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है। अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु एक-एक जीव के साथ सम्बन्धित हैं। चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में भी जीव का सम्बन्ध अनन्त पुद्गलपरमाणुओं से है। यद्यपि वह जीव अगले समय में सिद्धत्व प्राप्त करने वाला है तथा उसके सबसे न्यून कर्मवर्गणायें एकक्षेत्रावगाहरूप से सम्बन्धित हैं; तथापि कर्मवर्गणायें अनन्त ही है।

संसारदशा चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त है और जब तक संसारदशा है, तब तक अनन्त पुद्गलकर्मपरमाणुओं का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध अवश्य होता है। यद्यपि सिद्धशिला में भी अनन्त कर्मवर्गणायें रहती हैं; तथापि वे सिद्धों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के अभाव के कारण एकक्षेत्रावगाहरूप से सम्बन्धित नहीं हैं, अतः यहाँ पर उनकी चर्चा नहीं है।

सिद्धजीव तो पूर्णरूप से शुद्ध हो चुके हैं, अतएव उनका परमाणुओं के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है; परन्तु संसारीजीव तो अशुद्धता के निमित्त से कर्मवर्गणाओं को बाँधता है तथा एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध स्थापित करता है। यहाँ परमार्थवचनिका में उन्हीं कर्मवर्गणाओं की चर्चा है, जो आत्मद्रव्य के साथ सम्बन्ध बनाये हुये हैं। उन कर्मवर्गणाओं की यहाँ चर्चा नहीं है, जो सारे लोक में तथा सिद्धशिला में भी भरी पड़ी हैं।

यद्यपि जीव और पुद्गल का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, अनादि से एकक्षेत्र में रहते आये हैं; तथापि दोनों के स्वप्रदेश तो भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। आकाश द्रव्य की अपेक्षा जीव और पुद्गल का एकक्षेत्र कहा जाता है, फिर भी वास्तव में प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना स्वप्रदेश भिन्न ही है। प्रत्येक जीव असंख्यातप्रदेशी है, अतः प्रत्येक जीव के असंख्य स्वप्रदेश हैं, वे अरूपी हैं; प्रत्येक पुद्गलपरमाणु का अपना एकप्रदेश है, वह रूपी है। यदि एकक्षेत्र में अनन्तजीव भी हों तो भी प्रत्येक जीव के स्वप्रदेश जुदे-जुदे ही हैं; क्योंकि **प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टय में रहता है, सबका पृथक्-पृथक् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव होता है। किसी भी एक द्रव्य का स्वक्षेत्र कभी किसी दूसरे द्रव्य में नहीं मिलता।**

श्री समयसार शास्त्र की तीसरी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि – "सर्वपदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अपने

अनन्तधर्मों के चक्र को तो चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं; तथापि परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से रहने पर भी सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते तथा पररूप परिणमन न करने के कारण जिनकी अनन्त व्यक्तिता नष्ट नहीं होती, इसलिए वे टंकोत्कीर्ण की भाँति स्थित रहते हैं।'' – इसप्रकार अनंतपदार्थ एक ही क्षेत्र में साथ-साथ अनादिकाल से रहने पर भी प्रत्येक पदार्थ का निज-निज स्वरूप भिन्न-भिन्न ही रहता है। यद्यपि लोक असंख्यप्रदेशी है; तथापि इसमें असंख्य-असंख्यप्रदेशी अनन्तजीव रहते हैं तथा एकद्रव्य के प्रदेश दूसरे द्रव्य के प्रदेश को स्पर्श भी नहीं करते।

यहाँ कोई कहे कि जब लोक के असंख्यप्रदेशों में अनन्तजीव रहते हैं तो अनन्तजीवों के असंख्यातवें भाग जीव एकप्रदेश में रहेंगे; परन्तु इसप्रकार का त्रैराशिक माप (गणित से संबंधित) यहाँ वस्तु के स्वभाव में अनुकूल नहीं होता, क्योंकि **एक जीव चाहे जितना संकुचित हो जाय तो भी वह असंख्यप्रदेश में ही रहेगा। असंख्यप्रदेशों से कम प्रदेशों में वह कभी भी नहीं रहता।** जीव के असंख्यप्रदेशों का स्वरूप इसप्रकार है कि यदि उनका अत्यधिक विस्तार हो जाय तो एक जीव लोकप्रमाण हो जाय और लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर जीव के एक-एक प्रदेश स्थित हो जायें; परन्तु इतना विस्तार होने पर भी लोकाकाश के असंख्यप्रदेशों के समान जीव के प्रदेश भी असंख्य ही रहेंगे। और यदि जीव अत्यधिक संकुचित हो जाय तो लोकाकाश का असंख्यातवाँ भाग ही रोके, परन्तु फिर भी जीव के प्रदेश असंख्यप्रदेशत्व की सीमा का उल्लंघन नहीं करते; क्योंकि असंख्यात में असंख्यात का भाग देने पर असंख्यात ही शेष रहता है। इसका कारण यह है कि असंख्यात भी असंख्यप्रकार का होता है।

एक-एक जीवप्रदेश पर अनन्त कर्मवर्गणायें रहती है, जीव-परिणाम के निमित्त से इनका एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध हुआ है। इन कर्मवर्गणाओं

में अनन्त-अनन्त पुद्गलपरमाणु रहते हैं। यद्यपि इसप्रकार की अवस्था अनादिकाल से ही हैं; तथापि अनादिकाल से वे ही कर्मवर्गणायें अथवा उन ही कर्मपरमाणुओं का समूह सम्बन्धित हो – ऐसा नहीं है। अनादिकाल से प्रतिसमय अनन्त पूर्वबद्धपरमाणु छूटते हैं और नवीन बँधते हैं। कर्मबंधन की प्रकृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। कोई भी कर्मपरमाणु इससे अधिक पुराना नहीं रह सकता; बाद में भले ही कोई रजकण मुक्त होकर पुनः जीव के साथ बंधन को प्राप्त हो जाये। इसप्रकार यह एक जीवद्रव्य के साथ अनन्त कर्मरूप पुद्गलपरमाणु – **चलाचलरूप शक्तिसहित** रहते हैं। अहो! इससे स्वतंत्रता का सिद्धान्त ही प्रतिफलित होता है। कैसा अलौकिक भेद-विज्ञान वीतरागी सन्तों ने शास्त्रों में भर दिया है।

जीव के साथ सम्बन्ध रखनेवाले कर्मपरमाणुओं में क्षण-क्षण नवीन-आगमन तथा पूर्वबद्ध परमाणुओं का गमन होता रहता है, इसप्रकार **आगमनगमनरूपशक्ति सहित** रहते हैं।

जीव द्रव्य तो एक है, उसके निमित्त से कर्मों का जो आना-जाना होता है, वह तो उनकी स्वयं की परिणमनशक्ति से होता है। आकाश द्रव्य की अपेक्षा भले ही जीव और कर्म एकक्षेत्र में हों, परन्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा तो भिन्न-भिन्न ही हैं। दोनों अपनी-अपनी **परिणमनशक्ति** से परिणमन करते हैं।

पुद्गलकर्मवर्गणाओं में निरंतरता क्षण-क्षण में अनन्त-अनन्त परमाणुओं की घट-बड़ होती रहती है, वह उसके ही **अनन्ताकार परिणमनरूप** होने से होती है। वर्ण-रस-गंध-स्पर्श अथवा प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग की अपेक्षा उनका अनेकाकारपना तो है ही।

वे पुद्गल द्रव्य अनेक प्रकार से बंधनेरूप और छूटनेरूप अवस्थाओं की अपेक्षा **बंध-मुक्तिशक्ति सहित** भी रहते हैं। जीव के विकार के

निमित्त से जिससमय अनन्तकर्मपरमाणु बंधते हैं; उसीसमय अनन्त-कर्मपरमाणु अपना फल देकर मुक्त हो जाते हैं। इसप्रकार जीवपुद्गल आदि समस्तद्रव्यों में अनन्त-अनन्त शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं।

जीव व पुद्गल की शक्तियों का सरस वर्णन नाटक समयसार में पण्डित बनारसीदासजी ने इसप्रकार किया है :-

समता रमता उर्ध्वता, ज्ञायकता सुखभास।
वेदकता चैतन्यता – यह सब जीव-विलास।।
तनता मनता वचनता, जड़ता जड़सम्मेल।
गुरुता लघुता गमनता – यह अजीव के खेल।।

आचार्य कुन्दकुन्द के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथराज 'समयसार' की टीका आचार्य अमृतचन्द्र ने 'आत्मख्याति' नाम से की। इस टीका के बीच-बीच में संस्कृतभाषा में कलशों (छन्दों) की रचना हुई है। उन कलशों की पं. राजमलजी पाण्डे द्वारा 'बालबोधिनी टीका' लिखी गई, उसमें भी अध्यात्म के गंभीरभावों का समावेश हुआ है। पण्डित बनारसीदासजी ने उसे पढ़ने के बाद उसके आधार पर 'नाटक समयसार' की रचना की। इन्हीं पं. बनारसीदासजी ने यह परमार्थवचनिका नाम का लघुग्रंथ भी बनाया, जिसमें अध्यात्म और आगम दोनों का सहारा लेकर बहुत गंभीरभावों को थोड़े में व्यक्त किया है।

इसप्रकार यहाँ यह बतलाया है कि जीव और पुद्गल का स्वभाव तो त्रिकाल भिन्न है, फिर भी संसारावस्था में जीव और पुद्गल का सम्बन्ध अनादि से है। उनमें जीवद्रव्य तो एक है; परन्तु पुद्गलद्रव्य अनन्तान्त, चलाचलरूप, आगमनगमनरूप, अनन्ताकारपरिणमनरूप बन्ध-मुक्तिशक्ति सहित परिणमते हैं।

–❋–

२

जीवद्रव्य की अनन्त अवस्थाएँ

परमार्थवचनिका में यहाँ संसारी जीव द्रव्य की अवस्थाओं का विचार किया जा रहा है।

अब, जीव द्रव्य की अनन्त अवस्थाएँ – उनमें तीन अवस्थाएँ मुख्य स्थापित कीं। एक अशुद्ध अवस्था, एक शुद्धाशुद्धरूप मिश्र अवस्था, एक शुद्ध अवस्था – ये तीन अवस्थाएँ संसारी जीवद्रव्य की; संसारातीत सिद्ध अनवस्थितरूप कहे जाते हैं।

यहाँ मिथ्यादृष्टि से चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक सभी संसारी जीवों की अवस्था के मुख्यतः तीन प्रकार कहे हैं, उसमें अनन्त अवस्थाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। यहाँ संसार-अवस्था से सहित संसारी जीवों की ही चर्चा हैं। संसारातीत सिद्धभगवन्तों को यहाँ नहीं लिया गया है; क्योंकि वे तो संसार-अवस्था से पार हो गये हैं, अतः उन्हें 'अनवस्थित' कहा गया है। सिद्धभगवान को अशुद्धता तथा कर्म का संयोग नहीं है, अतः उन्हें उसप्रकार का व्यवहार भी नहीं है। इसी परमार्थवचनिका में सिद्धभगवानों की 'व्यवहारातीत' भी कहा है।

अब तीनों अवस्थाओं का विचार – एक अशुद्धनिश्चयात्मक द्रव्य, एक शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य, एक मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य। अशुद्धनिश्चयद्रव्य को सहकारी अशुद्धव्यवहार, मिश्रद्रव्य को सहकारी मिश्रव्यवहार, शुद्धद्रव्य को सहकारी शुद्धव्यवहार।

यद्यपि स्वभावदृष्टि से देखने पर द्रव्य अशुद्ध नहीं है; तथापि अशुद्धपर्याय से परिणमित आत्मा को अशुद्धपर्याय के साथ अभेद मानकर

अशुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य कहा है और उसके साथ होनेवाली अशुद्धपरिणति को (भेददृष्टि से) अशुद्धव्यवहार कहा है। इसप्रकार **अशुद्धनिश्चयद्रव्य को सहकारी अशुद्धव्यवहार** का स्पष्टीकरण हुआ।

इसीप्रकार साधकपर्यायरूप से परिणमित आत्मा को साधकदशा के साथ अभेद करके मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य कहा है तथा उसकी साधक-बाधकपर्याय को (भेददृष्टि से) मिश्रव्यवहार कहा है। इस प्रकार **मिश्रनिश्चयद्रव्य को सहकारी मिश्रव्यवहार** का खुलासा हुआ।

इसीप्रकार शुद्धपर्याय से परिणमित आत्मा को शुद्धपर्याय से अभेद करके शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य कहा है और उसकी शुद्धपर्याय को (भेददृष्टि से) शुद्धव्यवहार कहा है। इसप्रकार **शुद्धनिश्चयद्रव्य को सहकारी शुद्धव्यवहार** का वर्णन हुआ।

यद्यपि संसार अवस्था में अशुद्धता व शुद्धता – दोनों के अनन्त-अनन्त प्रकार हैं; किन्तु अधिक भेद न करके प्रयोजनमात्र-अशुद्ध, मिश्र और शुद्ध – ऐसे तीन ही भेद किए गये हैं। इनमें ही अनन्त भेदों का समावेश हो गया है।

अब निश्चय-व्यवहार का विवरण लिखते हैं :–

निश्चय तो अभेदरूपद्रव्य, व्यवहार द्रव्य के यथास्थितभाव; परन्तु विशेष इतना कि जितने काल संसारावस्था उतने काल व्यवहार कहा जाता है, सिद्ध व्यवहारातीत कहे जाते हैं; क्योंकि संसार और व्यवहार एकरूप बतलाया है। संसारी सो व्यवहारी, व्यवहारी सो संसारी।

द्रव्य-पर्याय को अभेद मानकर निश्चय कहा है और पर्याय को यथावस्थितभाव कहकर भेद करके व्यवहार कहा है। यह निश्चय तो अभेदरूप द्रव्य का स्पष्टीकरण हुआ। यहाँ शुद्धनय के विषयभूत शुद्धस्वभाव की बात नहीं है; यहाँ तो द्रव्य जिस पर्यायरूप परिणमित हुआ है, उस

पर्याय के भावप्रमाण सम्पूर्ण द्रव्य को भी वैसा ही कहना – यह निश्चय है। **तात्पर्य यह है कि शुद्धपर्याय से परिणमित आत्मा को शुद्धनिश्चय, शुद्धाशुद्धपर्याय से परिणमित आत्मा को मिश्रनिश्चय तथा अशुद्धपर्याय से परिणमित आत्मा को अशुद्धनिश्चय कहा है।**

श्री प्रवचनसार शास्त्र में भी यह बात ली गई है। प्रवचनसार की आठवीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :–

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

द्रव्य जिससमय जिसभावरूप से परिणमन करता है, उससमय वह उससे तन्मय है – ऐसा जिनेन्द्रभगवान ने कहा है; इसलिए धर्म-परिणत आत्मा को धर्म समझना चाहिए।

अहो! कुन्दकुन्दाचार्य के परमागमों में लाखों आगमशास्त्रों का मूल समाविष्ट है।

विशेषरूप से यहाँ यह कहा गया है कि जहाँ तक संसार अवस्था है, वहाँ तक व्यवहार है, सिद्धों के व्यवहार नहीं है। अर्थात् संसार है, वही व्यवहार है और व्यवहार है, वही संसार है – इसप्रकार **संसार व व्यवहार दोनों को एकरूप कहा है। संसारी सो व्यवहारी और व्यवहारी सो संसारी।**

इस विषय को जानने से यह समझना चाहिए कि जो जीव व्यवहार का अवलम्बन करता है, वह वास्तव में संसार का ही अवलम्बन करता है। अज्ञानी जीव व्यवहार व्यवहार करता है और उसके अवलम्बन से धर्म मानता है। परन्तु यहाँ तो ४०० वर्ष पूर्व आगमाभ्यासी पंडित बनारसीदासजी कहते हैं कि व्यवहार और संसार दोनों एकरूप हैं। जो व्यवहारी हैं, वह संसारी हैं।

जो व्यवहार का अवलम्बन करता है, वह संसार में भटकता है और जो शुद्धस्वभाव (कर्मसंयोग व विकाररहित आत्मस्वभाव)

का अवलम्बन करता है, वह शुद्धता प्राप्त करके सिद्ध हो जाता है, उसके व्यवहार नहीं रहता और वह व्यवहारातीत हो जाता है।

अज्ञानी व्यवहार....व्यवहार करता है; किन्तु भाई! तेरा तो जो व्यवहार है, वह भी अशुद्ध है, फिर भला तुझे उस अशुद्धता में से शुद्धता कैसे प्राप्त होगी? जिन्हें शुद्धव्यवहार है वे तो व्यवहार के अवलम्बन में अटकते ही नहीं, उनकी परिणति तो शुद्धस्वभाव की ओर ही झुकी हुई है। शुद्धस्वभाव की ओर झुकी हुई परिणति को ही यहाँ शुद्धव्यवहार कहा है – ऐसा शुद्धव्यवहार अज्ञानी के नहीं होता।

अब तीनों अवस्थाओं का विवरण लिखते हैं :–

जितने काल मिथ्यात्व अवस्था, उतने काल अशुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य अशुद्धव्यवहारी। सम्यग्दृष्टि होते ही चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य मिश्रव्यवहारी। केवलज्ञानी शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य शुद्धव्यवहारी।

यहाँ जो तीन प्रकार के भेद किए, वे किस-किस जीव को होते हैं, यह बतलाते हैं –

अज्ञानी जीव आत्मा के शुद्धस्वभाव को भूलकर, रागादि-अशुद्धतारूप ही अपने को मानता हुआ, अशुद्धतारूप ही परिणमन करता है, अतः उसके द्रव्य को **अशुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य** कहा है। यद्यपि अशुद्धता तो क्षणिकपर्याय है; तथापि उसके सहकार से द्रव्य को अशुद्ध कहा जाता है। जब वही जीव शुद्धपरिणतिरूप परिणमन करता है, तब शुद्धपरिणति के सहकार से उसी द्रव्य को **शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य** कहा जाता है।

अशुद्धपर्याय के समय भी शुद्धद्रव्यस्वभाव तो विद्यमान ही है; किन्तु अज्ञानी को इसका भान नहीं है। यदि उसे स्वभाव का भान हो जाय तो उसको अकेला अशुद्धपरिणमन नहीं रहे, बल्कि वह साधक हो जाय।

साधक की आत्मा **मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य** है। सम्यग्दृष्टि साधक को शुद्धद्रव्य का भान हुआ है, उसकी परिणति कुछ तो शुद्धतारूप परिणमित हुई है और कुछ अशुद्धतारूप परिणमित हो रही है। इसप्रकार उसकी शुद्धाशुद्धरूप मिश्रपरिणति है और इस मिश्रपरिणति के सहकार से उस द्रव्य को (चौथे से बारहवें गुणस्थान तक) मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य कहते हैं। उसप्रकार की परिणति से द्रव्य स्वयं परिणमित हुआ है। अतः उस परिणति के सहकार से उस द्रव्य को भी वैसा कहा।

जिनकी परिणति पूर्ण शुद्धरूप से परिणमित हुई है, ऐसे केवलज्ञानी भगवन्तों की आत्मा को (तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में) **शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य** कहा है।

स्वभाव से तो वस्तु शुद्ध ही है; परन्तु अवस्था में भी शुद्धरूप से परिणमन करे तब ही शुद्ध कहने में आती है। समयसार की छठी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है :-

"एष एवाशेषद्रव्यांतरभावेभ्यः भिन्नत्वेनोपास्यमानत्वेन शुद्ध इत्यभिलप्यते।

यही आत्मा समस्त परद्रव्य के भावों से भिन्नपने सेवन किया गया शुद्ध – ऐसा कहा जाता है।"

अज्ञानी जीव शुद्धस्वभाव की उपासना नहीं करता, वस्तु को अशुद्धभावरूप ही अनुभव करता है तथा अशुद्धतारूप ही परिणमन करता है; इसलिए उसे अशुद्ध कहा जाता है।

अशुद्ध, मिश्र अथवा शुद्धपरिणतिरूप से द्रव्य स्वयं परिणमन करता है, अतः वह परिणति उसका व्यवहार है और उसरूप से परिणमित हुआ द्रव्य निश्चय है। ऐसा निश्चय-व्यवहार प्रत्येक जीव में वर्तता है।

जीव के निश्चय-व्यवहार जीव में ही समाये हुए हैं। पुद्गल की परिणति – वह पुद्गल का व्यवहार है और जीव की परिणति – वह जीव का व्यवहार है। जीव के भाव जीव में और पुद्गल के भाव पुद्गल में हैं।

अतः दोनों के भाव स्वतंत्र हैं, उनमें मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं, अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है।

द्रव्य सो निश्चय और पर्याय सो व्यवहार; अर्थात् द्रव्य निश्चयकारण है और पर्याय व्यवहारकारण हैं। जैसे – मोक्षमार्ग की पर्यायरूप से परिणमित शुद्धात्मद्रव्य निश्चय से मोक्ष का कारण है अर्थात् उसको 'कारणसमयसार' कहा है और पर्याय का भेद करके कहने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है। इसप्रकार अभेदद्रव्य का कथन करना निश्चय है और पर्याय के भेद का कथन करना व्यवहार है।

मोक्षमार्ग के प्रसंग में अभेदद्रव्य को मोक्ष का साधन कहना निश्चय है और मोक्षमार्ग की शुद्धपर्याय को मोक्ष का साधन कहना व्यवहार है। इस व्यवहार में जो रत्नत्रय हैं, वह यद्यपि निश्चयरूप शुद्ध है, तथापि तीन भेद होने से व्यवहार कहा गया है। रागरूप व्यवहाररत्नत्रय को मोक्ष का साधन कहना तो मात्र उपचार है और वह उपचार भी ज्ञानी को ही होता है, अज्ञानी को तो उपचार रत्नत्रय भी नहीं है।

अशुद्धपरिणतिरूप से परिणमित अज्ञानी जीव को अशुद्ध परिणति है, वह उसका व्यवहार है। वह **अशुद्धव्यवहार** है और उस अशुद्धपरिणति से परिणमित द्रव्य **अशुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य** है। इस **अशुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य को सहकारी अशुद्धव्यवहार** है। देखो! यहाँ पर निमित्त के सहकार की बात नहीं ली गई है। द्रव्य को तो उस-उस समय वर्तनेवाली अपनी पर्याय का सहकार है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व-अवस्था के समय आत्मा को अशुद्धपरिणति के सहकार से अशुद्ध कहा है, परन्तु कर्म के सद्भाव के कारण आत्मा को अशुद्ध नहीं कहा गया है।

साधकजीव को शुद्धाशुद्धरूप मिश्रपरिणति है, ऐसी मिश्रपरिणतिरूप से द्रव्य स्वयं परिणमित हुआ है। अतः उसे **मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य** और उसको सहकारी उसकी परिणति को **मिश्रव्यवहार** कहा है।

इसीप्रकार जिस आत्मा में केवलज्ञानादि पूर्ण शुद्धपर्याय परिणमित हुई है, वह **शुद्धनिश्चयात्मकद्रव्य** है और उसकी सहकारी उसकी परिणति **शुद्धव्यवहार** है।

देखो! एक द्रव्य का निश्यचय-व्यवहार कितना विचित्र है। द्रव्य को निश्चय और परिणति को व्यवहार कहा है तथा इन दोनों को सहकारी कहा है। वस्तु को किसी पर का सहकार नहीं है, अपने ही द्रव्य-पर्याय में एक दूसरे का सहकार है।

अशुद्ध उपादानरूप परिणमित द्रव्य को सहकारी अशुद्धपर्यायरूप व्यवहार है। मिश्र उपादानरूप द्रव्य को सहकारी मिश्रपर्यायरूप व्यवहार है। शुद्ध उपादानरूप परिणमित द्रव्य को सहकारी शुद्धपर्यायरूप व्यवहार है।

ये तीनों प्रकार संसारी जीव के हैं। जहाँ तक संसार अवस्था है, वहाँ तक व्यवहार है। अत सिद्धों को **व्यवहारातीत** कहा जाता है। यद्यपि सिद्धभगवान को पर्याय तो है; परन्तु यहाँ संसार-अवस्थित जीव का ही विवेचन होने के कारण सिद्धों को **अनवस्थित कहा** है।

– * –

उपादान-निमित्त संवाद

निमित्त – कहै निमित्त जग में बड्यो, मोतें बड़ौ न कोय।
तीन लोक के नाथ सब, मो प्रसादतें होय॥३२॥

उपादान – उपादान कहै तू कहा, चहुँगति में ले जाय।
तो प्रसादतें जीव सब, दुःखी होंहि रे भाय॥३३॥

निमित्त – अविनाशी घट-घट बसे, सुख क्यों विलसत नाहिं।
शुभ निमित्त के योग बिन, परे-परे बिललाहिं॥३६॥

उपादान – शुभ निमित्त इह जीव को, मिल्यो कई भवसार।
पै इक सम्यक्दर्श बिन, भटकत फिर्यो गंवार॥३७॥

– भैया भगवतीदास

३

संसारावस्था के तीन व्यवहार

निश्चय तो द्रव्य का स्वरूप, व्यवहार – संसारावस्थित भाव, उसका अब विवरण कहते हैं :–

मिथ्यादृष्टि जीव अपना स्वरूप नहीं जानता, इसलिए परस्वरूप में मग्न होकर उसको अपना कार्य मानता है; वह कार्य करता हुआ अशुद्धव्यवहारी कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को परोक्षप्रमाण द्वारा अनुभवता है, परसत्ता-परस्वरूप से अपना कार्य न मानता हुआ योगद्वार से अपने स्वरूप के ध्यान-विचाररूप क्रिया करता है; वह कार्य करते हुए मिश्रव्यवहारी कहा जाता है।

केवलज्ञानी यथाख्यातचारित्र के बल से शुद्धात्मस्वरूप का रमणशील है, इसलिए शुद्धव्यवहारी कहा जाता है। योगारूढ़ अवस्था विद्यमान है, अतः व्यवहारी नाम कहते हैं। शुद्धव्यवहार की सरहद तेरहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त जानना। – 'असिद्धपरिणमनत्वात् व्यवहारः।'

निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त सभी संसारी जीवों की अवस्था के प्रकार इन तीनों विभागों में समा जाते हैं।

संसार के जीवों में बहुभाग तो मिथ्यादृष्टि जीवों का ही है। मिथ्यादृष्टि जीव निजात्मस्वरूप जानता नहीं है और 'शरीरादि की क्रिया, वह मैं हूँ, राग जितना ही मैं हूँ' – इसप्रकार मानकर पर स्वरूप में ही मग्न रहता है – अर्थात् अशुद्धपर्यायरूप से ही परिणमता है, इसलिये वह अशुद्धव्यवहारी

है। अन्य द्रव्य के संयोग से हुई मनुष्यादि पर्याय वह वास्तव में आत्मस्वरूप नहीं है; किन्तु अज्ञानी तो 'मैं ही मनुष्य हूँ' ऐसा मानकर ही वर्तन करता है, उसको आचार्य ने प्रवचनसार शास्त्र में व्यवहारमूढ़ – परसमय कहा है। भाई! 'मनुष्यव्यवहार' यह वास्तव में तेरा व्यवहार नहीं है; परन्तु शुद्ध चेतना के विलासरूप जो आत्मव्यवहार है, वही तेरा व्यवहार है और तेरी शुद्धचेतनापर्याय ही तेरा व्यवहार है। तेरा व्यवहार तुझ में होगा या परद्रव्य में होगा? अरे! सोच तो सही, तेरा व्यवहार तुझ में और पर का व्यवहार पर में – यही न्यायमार्ग है।

प्रश्न – व्यवहार को तो पराश्रित कहा है न?

उत्तर – यहाँ **अभेद सो निश्चय और भेद सो व्यवहार** – यह विवक्षा है। भेद के विचार में जब तक पर का अवलम्बन है तब तक उसको भी पराश्रित कह सकते हैं; परन्तु जो भेदरूप भाव अर्थात् पर्याय है, वह अपने में ही उत्पन्न होती है, पर में नहीं होती है।

आत्मा तो चैतन्यस्वरूप है, वह मनुष्यादि देहरूप नहीं है। भाई! मनुष्यव्यवहार तो मिथ्यादृष्टि का है अर्थात् चेतनास्वरूप को भूलकर 'मैं मनुष्य ही हूँ' – ऐसी देहबुद्धि से अज्ञानी प्रवर्तता है। 'मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह शरीर है' – इसप्रकार अहंकार-ममकार से अपने को ठगाता हुआ अविचलितचेतनाविलास-मात्र आत्मव्यवहार से च्युत होता है, और समस्त क्रियाकलापों से आकण्ठपूरित ऐसे मनुष्यव्यवहार का आश्रय करके रागी-द्वेषी होता है। इस कारण से अज्ञानी परद्रव्यरूप कर्म के साथ संगति करने से वास्तव में परसमय है।[१] लोगों में मानवधर्म के नाम से अनेक घोटाले चल रहे हैं। यहाँ सन्त कहते हैं कि – 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी मिथ्याबुद्धि तो अधर्म है। भाई! तू तो आत्मा है, तेरा विलास चेतनारूप है; जड़ देह की क्रिया में तेरा व्यवहार है ही कहाँ? और रागादि अशुद्ध परिणति भी वास्तव में तेरा व्यवहार नहीं है, वह तो अशुद्धव्यवहार है।

१. प्रवचनसार, गाथा ९४ की टीका

अरे मूढ़! तुझे क्या हो गया है? अब तो समझ! तेरा शुद्ध व्यवहार तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धपरिणति में है, शुद्धचेतना परिणति वही तेरा आत्मव्यवहार है। अज्ञानी के अशुद्धपरिणति तो उसका अशुद्ध-व्यवहार है।

अरे जीव! तेरा व्यवहार क्या और तेरा निश्चय क्या? इसे भी तू नहीं जानता, अपने भावों को ही तू नहीं पहिचानता, तो किस प्रकार तू धर्म करेगा? अतः अपने भावों को तू भली प्रकार पहिचान, तभी तेरा हित हो सकेगा।

सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को परोक्षप्रमाण से अनुभवता है। सम्यक् मतिश्रुतज्ञान में इन्द्रिय और मन के अवलम्बन बिना जो रागरहित संवेदन होता है, उसकी अपेक्षा से वहाँ आंशिक प्रत्यक्षपना भी है; परन्तु मति-श्रुतज्ञान होने से उसे परोक्ष कहा है। इस सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी के विवेचन में आ गया है। स्वानुभव से आत्मस्वरूप को जाना है, इसीकारण धर्मी जीव पर की क्रिया को अथवा पर के स्वरूप को अपना नहीं मानता; इनसे भिन्न ही अपने ज्ञानस्वरूप को जानता है, और ऐसे निजस्वरूप के ध्यान-विचाररूप क्रिया में वर्तता है – यही उसका मिश्रव्यवहार है।

प्रश्न – इसको मिश्रव्यवहार क्यों कहा?

उत्तर – चूँकि साधक को अभी पूर्ण शुद्धता हुई नहीं है, उसकी पर्याय में कुछ शुद्धता और कुछ अशुद्धता – दोनों साथ-साथ वर्तती है; इसलिये उसको मिश्रव्यवहार कहा।

प्रश्न – मिश्रव्यवहार तो चौथे से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त कहा है, वहाँ बारहवें गुणस्थान में तो किंचित् भी रागादि अशुद्धता है नहीं; फिर वहाँ मिश्रपना कैसे कहा?

उत्तर – राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धता वहाँ नहीं रही – यह बात तो ठीक; परन्तु वहाँ अभी ज्ञानादिगुणों की अवस्था अपूर्ण है अर्थात् अल्प-

ज्ञानादि की अपेक्षा से (उदयभावरूप अज्ञानभाव है इस अपेक्षा से) अशुद्धता परिगणित कर मिश्रभाव कहा।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो केवली भगवान के भी योग का कम्पन आदि उदयभाव है, इसलिये उनके भी मिश्रपना कहना चाहिये?

उत्तर – नहीं, केवली भगवान के ज्ञानादिपरिणति सम्पूर्ण शुद्ध हो गई है और अब जो योग का कम्पन आदि है, वह नवीन कर्म सम्बन्ध का कारण नहीं होता, अर्थात् उनके अकेली शुद्धता ही मानकर शुद्ध व्यवहार कहा है।

सम्यग्दृष्टि को मिश्रव्यवहार कहा है। वहाँ आत्मा और शरीर की मिलकर क्रिया होती है – ऐसा 'मिश्र' का अर्थ नहीं है; किन्तु अपनी पर्याय में किंचित् शुद्धता और किंचित् अशुद्धता यह दोनों एकसाथ होने से मिश्र कहा है। आत्मा में सम्यग्दर्शन होते ही चौथे गुणस्थान से आंशिक शुद्धता प्रगटी है, वहाँ से लेकर बारहवें गुणस्थान तक साधकदशा है। ऐसी परिणतिवाले जीव को 'मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य' कहा है।

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि तो अपने शुद्धद्रव्य को जानता है, तो भी उसको 'शुद्ध-अशुद्ध-मिश्रनिश्चयात्मकद्रव्य' क्यों कहा?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि की निश्चयदृष्टि में – प्रतीति में कहीं शुद्धाशुद्ध आत्मा नहीं है, उसकी दृष्टि में तो शुद्धात्मा ही है; परन्तु पर्याय में अभी उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा स्वरूपाचरणचारित्रादि शुद्धांशों के साथ रागादिक अशुद्धांश भी हैं, अतः उसकी शुद्ध और अशुद्ध – ऐसी मिश्रभावरूप अवस्था है; उस मिश्रभाव के साथ अभेदता मानकर उस द्रव्य को भी वैसा 'मिश्रनिश्चयात्मक' कहा है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर तो द्रव्य शुद्ध ही है, अशुद्धता उसमें है नहीं। कहा है :–

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव॥६॥

अर्थात् आत्मा को शुद्धदृष्टि से देखो तो वह अप्रमत्त-प्रमत्त अथवा

शुद्ध-अशुद्ध ऐसे भेदरहित एकरूप शुद्ध ज्ञायक है, और जो यह ज्ञायकस्वभाव विकाररूप नहीं हुआ – वह सम्यग्दर्शन का विषय है। पर्याय में शुद्ध-अशुद्धपना आदि प्रकार हैं। जब ऐसा ज्ञायकस्वभाव उपास्य बनाया जावे तब पर्याय शुद्ध होती है और जब इस स्वभाव को भूलकर विकार में ही लीनता रहे, तब पर्याय अशुद्ध होती है। इस शुद्ध अथवा अशुद्ध पर्याय के साथ अभेदता से द्रव्य को भी शुद्ध, अशुद्ध अथवा मिश्र कहा गया है; क्योंकि उस-उस काल में वैसे भावरूप द्रव्य स्वयं परिणमा है, द्रव्य का ही वह परिणमन है, द्रव्य से भिन्न किसी अन्य का परिणमन नहीं है।

देखो! **साधकदशा में शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही एक साथ एक ही पर्याय में हैं; तथापि दोनों की धारा भिन्न-भिन्न है, शुद्धता तो शुद्धद्रव्य के आश्रय से है और अशुद्धता पर के आश्रय से है – दोनों की जाति जुदी है। दोनों साथ होने पर भी जो अशुद्धता है, वह वर्तमान में प्रगट हुई शुद्धता का नाश नहीं कर देती – ऐसी मिश्रधारा साधक के होती है।**

तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में केवलीभगवान पूर्ण यथाख्यात चारित्र के बल से शुद्धात्मस्वरूप में ही रमणशील हैं। यद्यपि यथाख्यातचारित्र तो बारहवें गुणस्थान में ही पूर्ण था, परन्तु वहाँ अभी केवलज्ञान नहीं था; अब केवलज्ञान और अनन्तसुख प्रगट होने से पूर्ण इष्टपद की प्राप्ति हुई। साध्य था, वह सध गया और आवरण का अत्यन्त अभाव हो गया; इसलिये शुद्धपरिणतिरूप शुद्धव्यवहार कहा। तेरहवें गुणस्थान में योगारूढ़ दशा अर्थात् योगों का कम्पन है और चौदहवें में कम्पन नहीं है; परन्तु वहाँ अभी असिद्धत्व है अर्थात् संसारीपना है, अतः वहाँ तक व्यवहार कहा गया है। सिद्ध भगवान संसार से पार हैं, इसलिये वे व्यवहारातीत हैं। जहाँ तक असिद्धपना है, वहाँ तक व्यवहार है, सिद्धजीव व्यवहार-विमुक्त हैं। वैसे तो दृष्टि अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को भी व्यवहार-विमुक्त कहा है, परन्तु यहाँ तो परिणति अपेक्षा से बात है। जहाँ तक संसार है,

वहाँ तक व्यवहारपरिणति मानी गई है, सिद्ध को व्यवहार से रहित कहा है। शास्त्रों में जहाँ जो विवक्षा हो वही समझना चाहिए।

इसप्रकार संसारी जीव की अवस्था के अशुद्ध, मिश्र और शुद्ध तीन भेद बतलाये। संसार में से मोक्ष जानेवाले प्रत्येक जीव की यह तीनों अवस्थायें हो जाती हैं। अशुद्धता तो अज्ञानदशा में सर्व संसारी जीवों के अनादि से वर्त रही हैं; पश्चात् आत्मज्ञान होने पर साधनभावरूप मिश्रदशा प्रगट होती है, और शुद्धता वृद्धिंगत होते-होते केवलज्ञान होने पर साध्यरूप पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होती है, पश्चात् अल्पकाल में मोक्षपद प्राप्त होता है। अशुद्धदशा तो आस्रव-बन्धतत्त्व है, मिश्रदशा में जितनी शुद्धता है, उतनी संवर-निर्जरा है तथा अल्प अशुद्धता है, वह आस्रव-बन्ध है, और पूर्ण शुद्धता प्रगट हुई वह भावमोक्ष है। द्रव्यमोक्षरूप सिद्धदशा की बात यहाँ नहीं ली है, क्योंकि संसारी जीवों की ही यहाँ बात है।

अज्ञानी के मात्र अशुद्धता है, चौथे गुणस्थान से कुछ शुद्धता और साथ में राग भी है – इसप्रकार मिश्रपना है, बारहवें गुणस्थान में वीतरागता है अर्थात् वहाँ राग नहीं है, परन्तु ज्ञानादिगुणों की अवस्था अपूर्ण है, इसलिए वहाँ भी मिश्रभाव कहा। केवलज्ञानी के ज्ञानादि पूर्ण हो गये हैं, इसलिए शुद्धता मानी; तथापि अभी (तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में) सिद्धपना नहीं है अर्थात् असिद्धत्व होने से उनको भी व्यवहार में परिणमित किया; क्योंकि शरीर के साथ अभी उसप्रकार का सम्बन्ध है और परिणति में उसप्रकार की योग्यता है। जब सिद्धदशा हुई तब व्यवहार छूट गया और व्यवहार छूटा, वहाँ संसार छूटा अर्थात् व्यवहारातीत हुआ, वहाँ संसारातीत हुआ।

प्रश्न – यहाँ चौदहवें गुणस्थान तक व्यवहार कहा, सिद्ध को व्यवहारातीत कहा, किन्तु समयसारादि में तो सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान से ही व्यवहार का निषेध कहा है?

उत्तर – भाई! वहाँ भी जो व्यवहार है, उसका अस्वीकार नहीं किया

है; हाँ उस व्यवहार का आश्रय करने से इन्कार किया है। जिस भूमिका में जो व्यवहार हो उसे तो जानना परन्तु उसका आश्रय मत करना – ऐसा वहाँ कहने का आशय है। यदि उसके अवलम्बन से लाभ मानेगा तो उस व्यवहार के विकल्प में ही अटक जायेगा और परमार्थ का अनुभव नहीं हो सकेगा। **जिनमत में प्रवर्तने के लिये दोनों नय जानने योग्य कहे हैं; किन्तु आश्रय करने योग्य तो मात्र एक भूतार्थस्वभाव ही है। अतः व्यवहार का ज्ञान मत छोड़ो, किन्तु उसका आश्रय छोड़ो और परमार्थ का आश्रय करो – ऐसा उपदेश है।**

इसीप्रकार यहाँ भी संसारावस्था में किस जीव का कैसा व्यवहार होता है, उसका ज्ञान कराया है; किन्तु उसका आश्रय करने के लिये नहीं कहा। एक त्रिकाली अखण्ड द्रव्य को संसारी और सिद्ध ऐसे दो अवस्थाभेद से लक्ष्य में लेना भी व्यवहार है, और उस भेद के लक्ष्य से निर्विकल्पता नहीं होती। एकरूप अभेद द्रव्यस्वभाव को दृष्टि में लेना, वह निश्चय है तथा उसी के लक्ष्य से निर्विकल्पदशा की प्राप्ति होती है।

प्रश्न – क्या व्यवहार मिथ्यात्व है?

उत्तर – नहीं भाई! **व्यवहार स्वयं मिथ्यात्व नहीं है, व्यवहार तो ज्ञानी को भी होता है; यहाँ तो चौदहवें गुणस्थान पर्यंत व्यवहार कहा है, वह व्यवहार मिथ्यात्व नहीं है; परन्तु व्यवहार के भेद के अवलम्बन में अटककर उससे लाभ मानें तो अवश्य मिथ्यात्व है।**

समयसार नाटक में कहा है कि – असंख्य प्रकार के जो मिथ्यात्वभाव हैं, वे व्यवहार हैं तथा जिसका मिथ्यात्व छूटा और सम्यक्त्व हुआ, वह जीव निश्चय में लीन है और व्यवहार से मुक्त है। वहाँ ऐसा आशय समझना कि जो मिथ्यात्वभाव है वह किसी न किसी प्रकार से व्यवहाराश्रित है, अतः जितने प्रकार मिथ्यात्व के कहे उतने ही प्रकार व्यवहार के कहे; परन्तु इसका अभिप्राय ऐसा नहीं समझना कि जो व्यवहार है, वही मिथ्यात्व है। सम्यग्दृष्टि को व्यवहार तो भूमिकानुसार होता है,परन्तु उसे

व्यवहार का आश्रय करने की बुद्धि नहीं है; अतः उसके मिथ्यात्व नहीं है।

अब संसार-अवस्था में स्थित जीव की तीनों अवस्थाओं का अर्थात् तीनों प्रकार के व्यवहारों का स्वरूप कहते हैं :-

अशुद्धव्यवहार शुभाशुभाचाररूप है, शुद्धाशुद्धव्यवहार शुभोपयोगमिश्रित स्वरूपाचरणरूप है, शुद्धव्यवहार शुद्धस्वरूपाचरणरूप है; परन्तु विशेष इतना कि कोई कहे कि शुद्धस्वरूपाचरण तो सिद्ध में भी विद्यमान है, इसलिये वहाँ भी व्यवहार संज्ञा कहना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि संसारावस्था तक व्यवहार कहा जाता है तथा संसारावस्था मिटने पर व्यवहार भी मिटा कहा जाता है; ऐसी यहाँ स्थापना की है। इसप्रकार सिद्ध व्यवहारातीत कहे जाते हैं।

इति व्यवहार विचार समाप्त।

अज्ञानी को शुभाचाररूप तथा अशुभाचाररूप अशुद्धव्यवहार है, उस शुभाशुभ आचरण में शुद्धता नहीं है। मिथ्यादृष्टि को शुभाशुभराग का ही आचरण होता है, शुद्धाचरण नहीं होता। कोई कहे कि शुभभाव शुद्धभाव का कारण है – तो कहते हैं कि नहीं है।

शुभाचरण स्वयं अशुद्ध है – यह बात पण्डित बनारसीदासजी भी ४०० वर्ष पहले स्पष्ट कह गए हैं और जैनसिद्धान्त में अनादि से यही बात सन्त कहते आए हैं। शुभाचरण स्वयं अशुद्ध है, वह शुद्धता का कारण कैसे हो सकता है? इसप्रकार मिथ्यादृष्टि को जो अशुभ या शुभ आचरण है, उसे अशुद्धव्यवहार जानना।

साधक का मिश्रव्यवहार कैसा है? उसको शुभोपयोगमिश्रित स्वरूपाचरण है, वह शुद्धाशुद्ध मिश्रव्यवहार है। सम्यग्दर्शन होते ही चौथे गुणस्थान से स्वरूपाचरण प्रकट हुआ, वह शुद्धता का अंश है और वहाँ शुभराग भी है, वह अशुद्धता है – इसप्रकार साधक को शुद्धाशुद्धरूप मिश्रव्यवहार है।

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि को चतुर्थादि गुणस्थानों में अशुभभाव भी होता है, तथापि यहाँ स्वरूपाचरण को शुभमिश्रित ही क्यों कहा? अशुभ की बात क्यों नहीं की?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि के अशुभ की प्रधानता नहीं है, शुभ की प्रधानता है; इसलिए अशुभ की गणना नहीं की। **आगम में अशुभ की प्रधानता मिथ्यादृष्टि को ही मानी गई है। सम्यग्दृष्टि को चतुर्थ-पंचम-षष्ठम गुणस्थान में शुभोपयोग की प्रधानता है, साथ में शुद्धपरिणति भी होती है; अतः उसके शुद्ध के साथ शुभ का ही मिश्रपना माना गया है।** देखो! इसमें यह बात भी आ गई कि सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग भी अशुद्ध ही है, वह धर्म नहीं है।

प्रश्न :– यहाँ साधक के मिश्रव्यवहार को शुभोपयोगमिश्रित कहा; परन्तु ऊपर बारहवें गुणस्थान में शुभोपयोग तो है नहीं, तब मिश्रव्यवहार कैसे है?

उत्तर :– वहाँ शुभोपयोग नहीं है, यह बात तो ठीक है; परन्तु अभी ज्ञान-दर्शन-वीर्य-आनन्द आदि अपूर्ण हैं, अर्थात् ज्ञान के साथ औदयिक अज्ञान भी है; इस अपेक्षा से वहाँ भी मिश्रव्यवहार समझना। सिद्धान्त में अज्ञान का उदय बारहवें गुणस्थान तक कहा है और असिद्धत्वरूप औदयिकभाव चौदहवें गुणस्थान तक है। जब तक उदयभाव है, तब तक संसार है और जब तक संसार है, तब तक व्यवहार है।

केवली भगवान के शुद्धव्यवहार है, वह कैसा है? केवलज्ञान सहित शुद्धस्वरूपाचरणरूप शुद्धव्यवहार है। उनके अब साधकपना रहा नहीं और सिद्धपद भी अभी प्राप्त हुआ नहीं, किन्तु साध्यरूप परम-इष्ट परमात्मदशा उन्हें प्रकट हो गई है; अतः अरिहन्तों के शुद्धस्वरूपाचरणरूप शुद्धव्यवहार होता है।

प्रश्न :– शुद्धस्वरूपाचरण तो सिद्ध भगवान के भी होता है, ऐसी दशा में उनके भी शुद्धव्यवहार क्यों नहीं कहते?

उत्तर – इसका स्पष्टीकरण हो चुका है कि यहाँ संसार-अवस्थावाले जीवों का ही कथन है, इसलिए संसार-अवस्था तक ही व्यवहार कहा है। चौदहवें गुणस्थान तक असिद्धत्व है तथा कितने ही गुणों का विभाव परिणमन और कर्म संयोग है; अतः वहाँ तक ही व्यवहार माना है। सिद्धदशा में किसीप्रकार का विभाव तथा कर्म संयोग है नहीं, इसलिये संसारातीत ऐसे सिद्ध भगवान को व्यवहारातीत कहा गया है।

बारहवें गुणस्थान में भी यथाख्यात चारित्र है, तथापि वहाँ शुद्धव्यवहार न कहकर मिश्रव्यवहार क्यों कहा? इस सम्बन्धी स्पष्टीकरण भी पहले किया जा चुका है।

इसप्रकार संसारी जीवों में संसार-अवस्थारूप व्यवहार है, उसका स्वरूप तीन भेद करके समझाया; अतः व्यवहारविचार समाप्त हुआ। अब उन संसारी जीवों में आगमरूप तथा अध्यात्मरूप भाव किसप्रकार है – सो कहते हैं।

अब आगम अध्यात्म का स्वरूप कहते हैं :–

वस्तु का जो स्वभाव उसको आगम कहते हैं और आत्मा के अधिकार को अध्यात्म कहते हैं; आगम तथा अध्यात्मस्वरूप भाव आत्मद्रव्य के जानना। ये दोनों भाव संसार-अवस्था में त्रिकालवर्त्ती मानना।

उसका विवरण-आगमरूप कर्मपद्धति, अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति।

उसका विवरण – कर्मपद्धति पौद्गलिकद्रव्यरूप अथवा भावरूप; द्रव्यरूप पुद्गलपरिणाम, भावरूप पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्धपरिणतिरूप परिणाम; उन दोनों परिणामों को आगमरूप स्थापित किया।

अब शुद्धचेतनापद्धति शुद्धात्मपरिणाम; वह भी द्रव्यरूप अथवा भावरूप। द्रव्यरूप तो जीवत्वपरिणाम, भावरूप ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनन्तगुण परिणाम; वे दोनों अध्यात्मरूप जानना।

आगम अध्यात्म दोनों पद्धतियों में अनन्तता माननी।

वस्तु के स्वभाव का अर्थ यहाँ त्रिकालीस्वभाव नहीं समझना चाहिए; किन्तु पर्याय का स्वभाव समझना चाहिए। **संसारी जीव की पर्याय में विकार की परम्परा अनादि से चली आई है तथा उसके निमित्तरूप कर्म की परम्परा भी अनादि से चली आई है, उसको यहाँ आगमपद्धति कहते हैं।** यह आगमपद्धति अशुद्ध है; अर्थात् उसमें आत्मा का अधिकार नहीं कहा, अध्यात्मपद्धति शुद्धपर्यायरूप है; अर्थात् उसमें आत्मा का अधिकार कहा। आगमरूप अशुद्धभाव और अध्यात्मरूप शुद्धभाव – इन दोनों भाववाले जीव संसार-अवस्था में सदा होते ही हैं; अर्थात् संसारावस्था में इन दोनों भावों को त्रिकालवर्ती कहा।

संसार में साधक और बाधक जीव सदा रहते ही हैं। संसार में कभी मात्र अशुद्धपर्यायवाले जीव ही रह जावें और शुद्धपर्यायवाले जीव न रहें – ऐसा कभी बन नहीं सकता; अथवा सभी जीव शुद्धपर्यायवाले हो जावें और अशुद्धपर्यायवाला कोई जीव न रहे – ऐसा भी कभी हो नहीं सकता। सारांश यह है कि अशुद्धभावरूप आगमपद्धति और शुद्धभावरूप अध्यात्मपद्धति – यह दोनों भाव संसार में त्रिकाल वर्तते हैं। यह बात संसार में रहनेवाले भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा से समझना; अर्थात् कोई जीव शुद्धपर्यायवाला, कोई अशुद्धपर्यायवाला, कोई मिश्रपर्यायवाला होगा – इसप्रकार दोनों भाव त्रिकालवर्ती मानना; किन्तु एक ही जीव में यह भाव सदा रहते हैं – ऐसा नहीं समझना, अन्यथा अशुद्धता का अभाव होकर शुद्धता नहीं हो सकेगी, अथवा शुद्धपर्याय भी अनादि की ठहरेगी।

एक जीव अपनी पर्याय में से अशुद्धता का अभाव करके शुद्धता प्रकट कर सकता है; किन्तु जगत में सभी जीवों के अशुद्धभाव का सर्वथा अभाव होकर शुद्धता हो जाय – ऐसा कभी होनेवाला नहीं, जगत में सभी भाववाले जीव सदा रहेंगे। सिद्ध भी जगत में अनादि से होते आए हैं और निगोदिया भी अनादि से ही हैं, मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि तथा अज्ञानी वे केवलज्ञानी भी अनादि से ही हैं; इस भाँति से सभी प्रकार के जीव जगत में सदा रहनेवाले

हैं। कोई जीव समस्त जगत में से अज्ञान अथवा अशुद्धता का अभाव करना चाहे तो यह कभी हो सकता नहीं। हाँ! स्वयं अपनी आत्मा में से अज्ञान और अशुद्धता मिटाकर केवलज्ञान और सिद्धपद प्रकट कर सकता है।

जितना शुभाशुभ व्यवहारभाव है, वह सब आगमपद्धति में है; आगमपद्धति, बंधपद्धति अथवा कर्मपद्धति है – उसमें धर्म नहीं है; धर्म तो अध्यात्मपद्धति में है और वही मोक्षमार्गरूप है, वही शुद्धभावरूप है। इस शुद्धभावरूप अध्यात्मपद्धति में आत्मा का अधिकार कहा, किन्तु आगमपद्धति में नहीं; क्योंकि वह आत्मा के स्वभावरूप नहीं है अपितु विभावरूप है।

यहाँ आगमपद्धति कही गई है, उसमें आगम का अर्थ सिद्धान्तरूप शास्त्र मत समझना, किन्तु आगमपद्धति का अर्थ अनादि से चली आई परम्परा अथवा आगन्तुकभाव समझना। विकारी भाव नवीन आगन्तुकभाव हैं, स्वभाव में वे नहीं हैं, किन्तु कर्म के निमित्त से पर्याय में नये-नये उत्पन्न हुए हैं और अनादि से उनका प्रवाह चला आया है। **विकार और उनके निमित्तरूप – कर्म इन दोनों का प्रवाह अनादि से चला आया है, उसका नाम आगमपद्धति है; तथा जीव में जो नवीन अपूर्व अध्यात्मदशा अर्थात् शुद्धपर्याय प्रकट होती है, वह अध्यात्मपद्धति है।** इन दोनों प्रकार के भावों का सद्भाव जगत में सदा पाया जाता है। अतः उनका विवेचन अब करते हैं।

शुद्धचेतनापद्धति अर्थात् शुद्धात्मपरिणाम; यह भी द्रव्यरूप तथा भावरूप से दो तरह के हैं। द्रव्यरूप तो जीवत्वपरिणाम तथा भावरूप ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनन्त गुणपरिणाम – ये दोनों परिणाम अध्यात्मरूप जानना।

इन आगमऔर अध्यात्म दोनों पद्धतियों में अनन्तता मानना।

देखो! यह सूक्ष्म बात है, परन्तु है तो जीव के अपने परिणाम की ही बात। जीव को पर्याय में किस-किस प्रकार के भाव होते हैं, उन्हें समझने की यह बात है।

आत्मा की परिणति में अशुद्धता अनादि से है, वह स्वभावगत भाव नहीं है किन्तु आगन्तुक विकारीभाव है। वह परिणाम स्वभाव आकाररूप नहीं है; इसलिये उसको पुद्गलाकार कहा है; क्योंकि पुद्गलकर्म उसमें निमित्त है। पुद्गलकर्म की परम्परा तो द्रव्यरूप कर्मपद्धति है और उसके निमित्त से होनेवाली जीव की विकाररूप परम्परा, भावरूप कर्मपद्धति है। इसप्रकार द्रव्य और भावकर्म की परम्परारूप आगमपद्धति है। इन दोनों भावों को जीवद्रव्य का कहा है।

प्रश्न – द्रव्यकर्म की परम्परा तो पुद्गल की पर्याय है फिर भी यहाँ उसको जीव का भाव क्यों कहा?

उत्तर – वह पुद्गल की पर्याय है, यह बात बराबर सत्य है; परन्तु जीव के अशुद्धभाव के साथ उसका सम्बन्ध है, जीव के अशुद्धभाव के साथ मिला हुआ उसका परिणमन है, इसलिये यहाँ कर्मपद्धति को भी जीव का भाव कह दिया है। जीव के साथ जिनका सम्बन्ध नहीं है, ऐसे दूसरे अनन्त परमाणु भी जगत में हैं; किन्तु उनकी यहाँ बात नहीं है; यहाँ तो जीव के परिणाम के साथ जिनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है – ऐसे पुद्गलों की बात है। मकान-शरीर-वस्त्रादि का सम्बन्ध तो जीव को कभी हो और कभी न भी हो, परन्तु संसार में जीव को कर्म का सम्बन्ध तो सदैव होता है; इस सम्बन्ध को बताने के लिए उसको भी जीव का भाव कहा – ऐसा समझना चाहिए।

आत्मद्रव्य और उसके ज्ञानादि गुणों के जो शुद्ध परिणाम हैं, वे अध्यात्मपद्धतिरूप हैं। यह अध्यात्मपद्धति शुद्धचेतनारूप है अर्थात् उसमें विकार अथवा कर्मों का सम्बन्ध नहीं है। द्रव्य के शुद्धपरिणाम तो **द्रव्यरूप शुद्धचेतनापद्धति** हैं और ज्ञान-श्रद्धा-चारित्रादि गुणों के शुद्धपरिणाम **भावरूप शुद्धचेतनापद्धति** हैं।

इसप्रकार ये दोनों परिणाम अध्यात्मरूप जानना।

●

४

आगम-अध्यात्मपद्धति की अनन्तता

आगमपद्धति में संसारमार्ग का और अध्यात्मपद्धति में मोक्षमार्ग का वर्णन है। जिनसे कर्मबन्धन हो, वे सभी भाव आगमपद्धति में समाविष्ट हैं। व्यवहाररत्नत्रय में जो शुभराग है, वह भी आगमपद्धति में गर्भित है। शुद्धचेतनारूप जितने भाव हैं, वे अध्यात्मपद्धति में आते हैं। इसप्रकार दोनों पद्धतियों की धारा परस्पर भिन्न है। इन दोनों पद्धतियों में अनन्तता स्वीकार करना। आत्मा के विकारीभावों में अनन्त प्रकार हैं और उनमें निमित्तरूप कर्म भी अनन्त प्रकार के हैं; आत्मा के निर्मल परिणामों में भी अनन्त गुणों के अनन्त प्रकार हैं; ज्ञानादि गुणों के परिणमन में भी अनन्त प्रकार हैं। इसतरह अशुद्धता और शुद्धता दोनों में ही अनन्तता समझना।

जिसप्रकार समयसार में अज्ञानी को पुद्‌गलकर्म के प्रदेश में स्थित कहा; उसीप्रकार यहाँ अशुद्धपरिणाम को पुद्‌गलाकार कहा; वह आत्मा के स्वभाव की जाति का नहीं है, इसलिए उसको आत्माकार नहीं कहा। आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाला परिणाम शुद्ध परिणाम है, वह आत्माकार है; उसमें पुद्‌गल का सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के स्वभाव से सम्बन्धित भाव ही आत्मा को सुख का कारण हो सकता है; पुद्‌गल से सम्बन्धित भाव कदापि आत्मा को सुख का कारण नहीं हो सकता, अतः वह भाव उपादेय भी नहीं हो सकता। वह भाव तो आगन्तुक है, वह अन्दर से प्रगट नहीं हुआ है और अन्दर रहनेवाला भी नहीं है। वास्तव में उस भाव में आत्मा नहीं है, मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि किसी भी शुभाशुभभाव में आत्मा का अधिकार नहीं है; बल्कि आस्रव का अधिकार

है, बंध का अधिकार है। यह विकारी भाव आस्रव-बन्धतत्त्व के अधीन है, आत्मा के स्वभाव को उनका स्वामित्व नहीं है; अतः उसमें आत्मा का अधिकार नहीं है। आत्मा का अधिकार तो शुद्धचेतनापरिणति में ही है।

आगमपद्धति तो उदयभावरूप है और अध्यात्मपद्धति उपशम क्षायिक अथवा सम्यक् क्षयोपशमभावरूप है। पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध और अजीवकर्म का समावेश आगमपद्धति में होता है, तथा संवर, निर्जरा, मोक्ष एवं शुद्धजीव का समावेश अध्यात्मपद्धति में होता है। इसप्रकार दोनों पद्धतियाँ एक दूसरे से विलक्षण है, उनका स्वरूप पहचाने तो भेदज्ञान होकर मोक्षमार्ग प्रगट हो जाय; अर्थात् **अपने में अध्यात्म की परम्परा विकसित होने लगे और आगम की (कर्म तथा अशुद्धता की) परम्परा मुरझाने लगे इसका नाम धर्म है।** ऐसी अध्यात्मपद्धति का प्रारम्भ चतुर्थगुणस्थान से होता है। चतुर्थ से चतुर्दशगुणस्थान तक अध्यात्मपद्धति है; परन्तु भूमिकानुसार जितनी अशुद्धता और कर्म का सम्बन्ध है, उतनी आगमपद्धति है; उसके सर्वथा छूट जाने पर संसार छूट जाता है और सिद्धदशा प्रगट होती है; पश्चात् पुद्गलकर्म के साथ किंचित् भी सम्बन्ध नहीं रहता और संसार की अनादि से प्रवाहित परम्परा का भी आत्यन्तिक मूलोच्छेद हो जाता है।

अज्ञानी आगमपद्धति अर्थात् विकार एवं कर्म के सम्बन्ध को ही जीव का स्वरूप मानता है, जीव के वास्तविक स्वरूप को जानता ही नहीं। अतः उसको तो अध्यात्म अथवा आगम में से किसी भी पद्धति का यथार्थबोध नहीं है; क्योंकि अज्ञानी ने तो शुभरागरूप आगमपद्धति को ही अध्यात्मपद्धति मान लिया है। यह बात आगे विस्तार से आयेगी। **आगम और अध्यात्म का सच्चा परिज्ञान सम्यग्ज्ञानी को ही होता है।**

संसार में आगम और अध्यात्म दोनों पद्धतियाँ त्रिकाल हैं, किन्तु व्यक्तिगत एक जीव को आगमपद्धति अनादि की है और अध्यात्मपद्धतिरूप

साधकदशा असंख्यसमय की ही होती है। कोई भी जीव साधकदशा में अधिकाधिक असंख्यसमय तक ही रह सकता है, इससे अधिक नहीं तथा कोई जीव साधकदशा में अल्प से अल्प काल ही रहकर सिद्ध हो, तो भी साधकदशा का काल असंख्यसमय तो होगा ही, यह नियम है। संसार में सभी जीवों को ये भाव अध्यात्मपद्धतिरूप हों, ऐसा नियम नहीं है।

अब आगम और अध्यात्म पद्धतियों में अनन्तता का विचार लिखते हैं।

अनन्तता का स्वरूप दृष्टान्त से दर्शाते हैं। जैसे – बड़ के वृक्ष का एक बीज हाथ में लेकर उसके ऊपर दीर्घदृष्टि से विचार करें तो बड़ के उस बीज में एक बड़ का वृक्ष है, भाविकाल में जैसा कुछ वृक्ष होनेवाला है, वैसे विस्तारसहित वह उस बीज में वास्तविक विद्यमान है, अनेक शाखा-प्रशाखा-पत्र-पुष्प-फलयुक्त है, उसके प्रत्येक फल में ऐसे अनेक बीज हैं।

इसप्रकार की अवस्था एक बड़ के बीज में विचरना। पुनः सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो उस बड़ के वृक्ष में जो-जो बीज हैं, वे अन्तगर्भित बड़वृक्ष संयुक्त हैं। इसप्रकार एक बड़ में अनेक-अनेक बीज और एक-एक बीज में एक-एक वृक्ष, उनका विचार करें तो भावि नय की प्रधानता से न तो बड़वृक्ष की और न उसके बीजों की मर्यादा प्राप्त हों।

इसीप्रकार अनन्तता का स्वरूप जानना।

उस अनन्तता के स्वरूप को केवलज्ञानी पुरुष भी अनन्त देखते-जानते-कहते हैं; अनन्त का दूसरा अन्त है ही नहीं कि जो ज्ञान में भासित हो, इसलिये अनन्तता अनन्तरूप ही प्रतिभासती है।

इस भाँति आगम और अध्यात्म की अनन्तता जानना।

अनन्तता को समझाने के लिए यहाँ वृक्ष और बीज का दृष्टान्त दिया है। वृक्ष और बीज की परम्परा अनादि से है, पहले वृक्ष अथवा पहले बीज? भाई! परम्परा की दृष्टि से दोनों अनादि से हैं और सूक्ष्म विचार करने पर प्रत्येक बीज में भविष्य के अनन्त वृक्ष होने की शक्ति है –

इसप्रकार दोनों की परम्परा विचार करने पर कहीं पार नहीं आता। जीव में भी विकार और कर्म की परम्परा अनादि से चली आ रही है और शुद्धपर्याय का प्रवाह भी जगत में अनादि से ही है। प्रथम सिद्ध या संसारी? – दोनों अनादि से ही है। प्रथम विकार या कर्म? – दोनों की परम्परा अनादि से है। प्रथम द्रव्य या पर्याय? प्रथम सामान्य या विशेष? – दोनों ही अनादि से है; इनमें प्रथम पश्चात् नहीं।

यदि 'द्रव्य की प्रथम पर्याय यह है' – ऐसा कहें तो द्रव्य की ही आदि हो जायेगी और द्रव्य अनादि नहीं रहेगा। इसीप्रकार 'द्रव्य की अन्तिम पर्याय यह है' – ऐसा कहें तो वहाँ द्रव्य का ही अन्त हो जायेगा और द्रव्य अनन्त नहीं रहेगा। एक-एक पर्याय सादि-सांत भले हो, किन्तु पर्याय के प्रवाह का आदि-अन्त नहीं है; अर्थात् द्रव्य की यह पर्याय प्रथम और यह अन्तिम – ऐसा आद्यन्तपना नहीं है। द्रव्य में पर्याय का प्रवाह पहले नहीं था और बाद में प्रारम्भ हुआ, अथवा वह प्रवाह कभी अवरुद्ध हो जाये – ऐसा नहीं है। जिसप्रकार द्रव्य अनादि-अनन्त है, उसीप्रकार उसकी पर्याय का प्रवाह भी अनादि-अनन्त वर्त रहा है और वह सब केवलज्ञान में स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा है। **देखो तो सही! इस जगत की वस्तुस्थिति! अनादि को अनादिरूप से और अनन्त को अनन्तरूप से ज्यों का त्यों केवली भगवान विकल्प बिना ही जानते हैं।**

प्रश्न – प्रथम पर्याय कौनसी और अन्तिम कौनसी? क्या यह भगवान भी नहीं जानते?

उत्तर – वस्तु जैसी है, वैसी भगवान जानते हैं या उससे विपरीत? जो अनादि है उसकी तो आदि है ही नहीं, तो फिर भगवान उसकी आदि कैसे जानेंगे? और जो अनन्त है उसका तो अन्त है ही नहीं, तो भगवान उसका अन्त भी कैसे जानेंगे? यदि भगवान उसके आदि-अन्त को जान लें तो अनादि-अनन्तपना ही कहाँ रहा? भाई! यह तो स्वभाव का अचिन्त्य विषय है। अहो! अनन्तता जिस ज्ञान में समा गई, उस ज्ञान को दिव्य अनन्तता

लक्ष्य में लेने पर ज्ञान उसमें ही (ज्ञानस्वभाव की अनन्त महिमा में ही) डूब जाता है, अर्थात् ज्ञान स्थिर हो जाता है, निर्विकल्प हो जाता है।

प्रश्न – यदि अनन्त का अन्त भगवान भी नहीं जानते, तब तो उनका ज्ञानसामर्थ्य मर्यादित हो गया? केवलज्ञान में अपरिमित सामर्थ्य सिद्ध नहीं हुई?

उत्तर – नहीं, भगवान यदि अनन्त को अनन्तरूप से न जानते हों तो उनका ज्ञानसामर्थ्य मर्यादित कहा जाय; परन्तु भगवान तो केवलज्ञान की असीम सामर्थ्य से अनन्त को अनन्तरूप से प्रत्यक्ष जानते हैं। भगवान उसका अन्त नहीं जान सके, इसलिये उसे अनन्त कह दिया – ऐसा नहीं है। भगवान ने अनन्त को अनन्तरूप से जाना है, इसलिये उसे अनन्त कहा है। अनन्त को भी सर्वज्ञ जानते हैं, यदि न जानें तो सर्वज्ञ कैसे कहें?

प्रश्न – जब भगवान ने अनन्त को जान लिया तो उनके ज्ञान में उसका अन्त आया या नहीं?

उत्तर – नहीं, भगवान ने अनन्त को अनन्तपने जाना है, अनन्त को अन्तरूप से नहीं जाना। भगवान अनन्त को नहीं जानते – ऐसा भी नहीं और भगवान के जानने से उसका अन्त आ जाता है – ऐसा भी नहीं। अनन्त तो अनन्तपने रहकर ही सर्वज्ञ के ज्ञान में ज्ञात होता है। यदि अनन्त को अन्तरूप से जाने तो वह ज्ञान खोटा; और यदि अनन्त को जान ही न सके तो वह ज्ञान अपूर्ण है।

प्रश्न – जो अनन्त है, वह भला ज्ञान में कैसे जाना जा सकता है?

उत्तर – भाई! ज्ञानसामर्थ्य की अनन्तता अति महान है, इसलिए असीम ज्ञानसामर्थ्य अनन्त के पार में पहुँच जाती है। ज्ञान का अचिन्त्य सामर्थ्य लक्ष्य में आवे तभी यह बात गले उतर सकती है। विकार में अटका हुआ ज्ञान मर्यादित है, वह अनन्त को प्रत्यक्षरूप नहीं जान सकता; किन्तु निर्विकार ज्ञान में तो बेहद अचिन्त्यशक्ति है। अतः वह अनादि-अनन्तकाल को, अनन्तानन्त आकाश प्रदेशों को साक्षात् जान

लेता है। अरे! ज्ञान में तो अनन्तगुणी सामर्थ्य विकसित हुई है।

प्रश्न – यहाँ वृक्ष और बीज के दृष्टान्त द्वारा विकार और कर्म की परम्परा भी अनन्त कही, ऐसी दशा में विकार का नाश होकर मोक्ष कैसे होगा?

उत्तर – वृक्ष और बीज की परम्परा सामान्यरूप से अनन्त है, परन्तु फिर भी सभी बीजों में से वृक्ष उगें ही – ऐसा नियम नहीं है; अनेक बीज उगने से पहले ही दग्ध हो जाते हैं और उनमें से वृक्ष बनने की परम्परा का अन्त आ जाता है। एक बार जो बीज दग्ध हो गया, वह पुनः कभी उग नहीं सकता। उसीप्रकार जगत में सामान्यरूप से विकार और कर्म की परम्परा अनन्त है, उसका जगत में से कभी अभाव होनेवाला नहीं, परन्तु ऐसा होने पर भी सभी जीवों में विकार की परम्परा चलती ही रहे – ऐसा भी नियम नहीं है। बहुत से जीव पुरुषार्थ द्वारा विकार की परम्परा तोड़कर सिद्धपद को प्राप्त करते हैं, उनके विकार की परम्परा का अन्त आ जाता है। जिसने एकबार विकार के बीज को दग्ध कर दिया, उसको पुनः कभी विकार होता नहीं – इसप्रकार विकार की शृंखला टूट भी सकती है।

प्रश्न – विकार की परम्परा तो अनादि की है, तो फिर उसका अन्त कैसे आवे?

उत्तर – अनादिकालीन परम्परा का अन्त आवे ही नहीं – ऐसा तो नहीं है। जैसे वृक्ष व बीज की परम्परा अनादि की होने पर भी किसी एक बीज के दग्ध हो जाने पर उसकी परम्परा का अन्त आ जाता है, तदनुसार विकार की परम्परा अनादि की होने पर भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से धर्मीजीव के द्वारा उसका अन्त आ जाता है। जिसप्रकार मोक्षमार्ग अनादि से न होने पर भी उसका नवीन प्रारम्भ हो सकता है; उसीप्रकार विकार अनादि का होने पर भी उसका अन्त हो सकता है।

प्रश्न – आगम और अध्यात्म दोनों में अनन्तता कही, वह किसप्रकार?

उत्तर– विकार के अनन्तप्रकार हैं और उनके निमित्तरूप कर्म में अनन्तानन्त परमाणु हैं – इसप्रकार आगमपद्धति में अनन्तता है और जीव के अनन्तगुणों की अनन्त निर्मलपर्यायें हैं, प्रत्येक निर्मल पर्याय अनन्त गंभीर भावों से और अनन्त सामर्थ्य से भरी हुई है; ज्ञान की एक छोटी-सी पर्याय में भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद रूप अंशों की सामर्थ्य है। इसप्रकार अध्यात्मपद्धति में भी अनन्तता जानना। एक-एक आत्मा में अनन्तगुण हैं, प्रत्येक गुण में अनन्त निर्मलपर्यायें प्रगट होने की शक्ति पड़ी है तथा प्रत्येक निर्मलपर्याय अनन्त सामर्थ्य सहित है। तेरी एक आत्मा में कितनी अनन्तशक्ति है, उसका लक्ष्य करे तो स्व-सन्मुखवृत्ति हो और अपूर्व अध्यात्मदशा प्रगट हो।

एक तरफ तो विकारधारा अनादि से है और दूसरी तरफ स्वभाव सामर्थ्य की धारा भी अनादि से साथ ही साथ चली आ रही है, विकारधारा के समय भी स्वभावसामर्थ्य की धारा का विच्छेद नहीं हो गया है, अभाव नहीं हो गया है; परिणति जब स्वभाव सामर्थ्य की ओर झुकी, तब ही विकार की परम्परा का प्रवाह टूटा और अध्यात्म की परम्परा प्रारम्भ हुई; जो पूर्ण होकर सादि-अनन्तकाल तक रहेगी।

अतः हे भाई! अन्तर्मुख होकर अपने स्वभाव सामर्थ्य का विचार कर, लक्ष्य कर, प्रतीति कर और अनुभव कर। लोगों को यह तो विश्वास आता है कि एक बीज से इतना विशाल किलोमीटरों में फैल जानेवाला बड़वृक्ष हो गया, परन्तु चैतन्यशक्ति के एक बीज में अनन्त केवलज्ञानरूप बड़वृक्षों को फैलाने की अनन्त शक्ति है – ऐसा विश्वास नहीं आता।

यदि चैतन्य सामर्थ्य का विश्वास करे तो उसके आश्रय से रत्नत्रयधर्म की अनेक शाखा-उपशाखा प्रगट होकर मोक्षफल सहित विशाल वृक्ष उगे। भविष्य में होनेवाले मोक्षवृक्ष की शक्ति वर्तमान में ही तेरे चैतन्यबीज में विद्यमान पड़ी है। सूक्ष्मदृष्टि से उसको विचार लेने पर अनुभव होकर तेरा अपूर्व कल्याण होगा। •

५

आगम-अध्यात्म के ज्ञाता

अब आगम और अध्यात्म में जो अनन्तता कही, उस सम्बन्ध में विशेष स्पष्टता करते हैं और उनके स्वरूप का ज्ञाता कौन है – यह बतलाते हैं।

उसमें विशेष इतना कि अध्यात्म का स्वरूप अनन्त है और आगम का स्वरूप अनन्तानन्तरूप है; यथार्थप्रमाण से अध्यात्म एक द्रव्याश्रित और आगम अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्याश्रित है।

इन दोनों का स्वरूप सर्वथा प्रकार से तो केवलज्ञानगोचर है तथा अंशमात्र मतिश्रुतज्ञानग्राह्य है। अतः सर्व प्रकार से आगामी व अध्यात्मी (आगम-अध्यात्म के ज्ञाता) तो केवलज्ञानी हैं, अंशमात्रज्ञाता मतिश्रुतज्ञानी हैं और देशमात्र ज्ञाता अवधिज्ञानी-मनः-पर्ययज्ञानी हैं।

ये तीनों (सम्पूर्णज्ञाता, अंशज्ञाता, देशज्ञाता) यथावस्थित ज्ञानप्रमाण न्यूनाधिकरूप जानना।

अध्यात्मपद्धति में एक शुद्धात्मा का ही आश्रय है, तथापि उसमें अनन्तगुणों के अनन्त निर्मल परिणाम हैं और एक-एक निर्मल परिणाम में अनन्त सामर्थ्य हैं; अर्थात् अध्यात्मपद्धति में अनन्तता है। आगमपद्धति में विकारपरिणाम के अनन्तप्रकार और उसमें निमित्तरूप कर्म के भी अनन्तप्रकार, उन कर्मों में अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु – इसप्रकार अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्यों के आश्रित होने से आगमपद्धति अनन्तानन्तरूप हैं।

इन दोनों के अनन्त प्रकारों का पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञानी को है। जीवों के शुद्ध-अशुद्ध परिणामों में अनन्त सूक्ष्मप्रकार हैं; उनका परिपूर्णस्वरूप तो सर्वज्ञ ही जानते हैं और सर्वज्ञ अनुसार सामान्यपने इन दोनों पद्धतियों का ज्ञान मति-श्रुतज्ञानी को भी आंशिक होता है। अनन्त प्रकारों को छद्मस्थ पूरा नहीं जान सकता; परन्तु कौनसा भाव स्वभावाश्रित है? कौन-सा भाव पराश्रित है? कौनसा भाव मोक्षमार्ग का कारण और कौन-सा भाव बन्ध का कारण है? किस भाव से धर्म है और किससे धर्म नहीं? – ऐसा प्रयोजनरूप ज्ञान सम्यग्दृष्टि को मति-श्रुतज्ञान से भी होता है। वह ज्ञान भले ही थोड़ा हो, किन्तु है तो वह केवलज्ञानानुसार ही।

'यह वचनिका केवलीवचन अनुसार है' – ऐसा पण्डित बनारसीदासजी स्वयं ही इस वचनिका के अन्त में कहेंगे।

अनन्त प्रकार के शुद्ध-अशुद्ध भावों में से अपने हिताहित का पृथक्करण कर ले – ऐसी शक्ति-मति-श्रुतज्ञान में है और अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान से भी इन भावों का एकदेश प्रत्यक्षज्ञान होता है। इसप्रकार आगम व अध्यात्म दोनों पद्धतियों के अनन्त प्रकारों को केवलज्ञानी सम्पूर्णरूप से जानते हैं, मति-श्रुतज्ञानी उसके अंश को जानते हैं और अवधि-मनःपर्ययज्ञानी उसके एक भाग को जानते हैं।

यह सभी ज्ञान यथावस्थित जाननेवाले हैं; इन यथावस्थित ज्ञानों में भी न्यूनाधिकता जानना। केवलज्ञान तो सभी का समान कक्षा का ही होता है, उसमें तो न्यूनाधिकता नहीं होती; परन्तु मति-श्रुतज्ञान में अथवा अवधि-मनःपर्ययज्ञान में हीनाधिकता के अनेक प्रकार पड़ते हैं। इन ज्ञानों से अपनी हीन-अधिक शक्ति के प्रमाण में आगम-अध्यात्म के प्रकारों को सम्यग्दृष्टि-ज्ञाता जानता है और इन ज्ञानों के बल से वह शुद्ध-अध्यात्मपद्धति को साधता है।

शुद्धचेतनारूप अध्यात्मपद्धति मोक्षमार्गरूप है, वह अपूर्व है; पूर्व में

कभी नहीं हुआ – ऐसा यह भाव है। जगत में तो इन भावों से युक्त जीव अनादि से होते आये हैं; परन्तु इस जीव के लिए यह भाव नया है, अपूर्व है। आगमपद्धतिरूप शुभाशुभभाव तो अनादि से जीव करता आया है, उसमें कोई नवीनता-अपूर्वता नहीं है और वह धर्म का कारण भी नहीं है। शुद्धचेतनापद्धति ही धर्म का कारण है और वह अध्यात्मस्वभाव के आश्रित है, इसप्रकार मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग – दोनों की जाति स्पष्ट भिन्न बतलाई है। मोक्षमार्ग तो आत्मा के आश्रित है, जबकि बन्धमार्ग पुद्‌गल के आश्रित है।

प्रश्न – बन्धभाव करता तो आत्मा है, फिर भी उसे पुद्‌गलाश्रित क्यों कहा?

उत्तर – यदि जीव निजस्वभाव का आश्रय लेकर परिणमन करे तो बन्धभाव की उत्पत्ति ही न हो। जब वह स्वभाव से बाह्य पर का आश्रय करता है, तभी बन्धभाव की उत्पत्ति होती है, और उस बन्धभाव में निमित्तरूप अनन्त परमाणुरूप कर्म होते हैं; इसलिये उसे पुद्‌गल-आश्रित कहकर आत्मा के स्वभाव से उसकी भिन्नता समझाई है, किन्तु कोई कर्म उस बन्धभाव को कराते हैं – ऐसा आशय उस कथन का नहीं है। कर्त्ता होकर उस भावरूप परिणमन तो जीव स्वयं ही करता है; परन्तु वह परिणमन स्वभाव की तरफ का नहीं है, पुद्‌गल की तरफ का है – इसलिये उसे पुद्‌गल-आश्रित कहा है। उसके आश्रय से धर्म अथवा मोक्षमार्ग नहीं है।

शुभ का जो मोक्ष का साधन मानता है, उसके मत में तो पुद्‌गलाश्रित ही मोक्षमार्ग हो गया, क्योंकि शुभभाव पुद्‌गलाश्रित है, वह कहीं आत्मस्वभावाश्रित नहीं है। मोक्षमार्ग तो आत्मस्वभावाश्रित है और पुद्‌गलाश्रित होनेवाले भाव तो मोक्षमार्ग का कारण कदापि नहीं हो सकते। धर्म अध्यात्मपद्धतिरूप है। अध्यात्मपद्धति अर्थात् शुद्ध परिणाम

और वह आत्मस्वभाव के आश्रित है, पर का आश्रय उसमें किंचित् भी नहीं हैं।

वाह! कितनी स्पष्ट बात है! मोक्षमार्ग कितना स्पष्ट और स्वाधीन!!! अरे, ऐसे स्पष्ट मार्ग को भूलकर यह जीव बाहर में कहीं न कहीं अटक-भटक रहा है। सन्तों ने उस मार्ग को स्पष्ट उद्घोषित करके जगत का महान कल्याण किया है।

अध्यात्मपद्धति अर्थात् शुद्धपर्यायरूप मोक्षमार्ग में तो मात्र स्वद्रव्य का ही आश्रय है और बन्धभावरूप आगमपद्धति में अनन्तान्त परमाणुओं का स्कन्ध निमित्त है। **एक निर्बन्ध परमाणु (मात्र परमाणु) जीव को बन्ध में निमित्त नहीं होता, अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु इकट्ठे होकर ही बन्ध में निमित्तरूप हो सकते हैं। कम से कम स्थिति-अनुभागवाला कर्म हो, उसमें भी अनन्तानन्त पुद्गल ही होते हैं। ऐसे अनन्तानन्त पुद्गल और उनके आश्रय से होनेवाले अनन्त प्रकार के विकारों की परम्परा को आगमरूप कर्मपद्धति कहते हैं।**

अभव्य अथवा मिथ्यादृष्टि को सदैव ऐसी आगमरूप कर्मपद्धति ही है; अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति उसको कभी प्रगट नहीं होती और आगमपद्धति कभी नहीं छूटती। वह कभी भी स्वभाव का आश्रय करता नहीं और कर्माश्रय छोड़ता नहीं। धर्मी को स्वभावाश्रय से अध्यात्मपद्धति होने पर आगमपद्धति (विकार की परम्परा) छूटने लगती है। अज्ञानी तो ऐसे शुद्धभाव को पहचानता भी नहीं। उसे तो विकार की पद्धति और रीति का भी सच्चा ज्ञान नहीं है। वह तो पर से विकार की उत्पत्ति मानता है, अथवा शुभरागरूप विकार की पद्धति को ही धर्म की पद्धति मान बैठता है। इसप्रकार उसे एक भी पद्धति का ज्ञान नहीं है – यह बात आगे कहते हैं।

अज्ञानी जीव अनुभवहीन होने से मोक्षमार्ग नहीं साध सकता, अतः उसके सम्बन्ध में कथन करते हैं :–

मिथ्यादृष्टि जीव न आगमी है, न अध्यात्मी। क्यों? कारण कि वह कथनमात्र तो ग्रन्थपाठ के बल से आगम-अध्यात्म का स्वरूप उपदेशमात्र कहताहै, परन्तु आगम-अध्यात्म के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानता नहीं; इसलिये मूढ़जीव आगमी भी नहीं और अध्यात्मी भी नहीं, निर्वेदकत्वात्। (अर्थात् उसे उस भाव का वेदन नहीं)।

अनुभवशून्य ज्ञान को वास्तव में ज्ञान कहते ही नहीं। शास्त्रज्ञान भले ही किया, विकार और स्वभाव भिन्न-भिन्न है – ऐसा शास्त्र से भले ही जाना; परन्तु जब तक स्वयं अन्तरंग अनुभव में उन दोनों की भिन्नता नहीं जानी, तब तक उसे सम्यग्ज्ञान नहीं कहते। तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि को आगम अथवा अध्यात्मपद्धति में से किसी एक का भी ज्ञान नहीं होता, अतः वह न तो आगमी ही है और न अध्यात्मी ही।

प्रश्न – अज्ञानी आगम-अध्यात्म का ज्ञाता क्यों नहीं है?

उत्तर – वह निर्वेदक है, इसलिये आगम-अध्यात्म का ज्ञाता नहीं है। अर्थात् शास्त्रादि के द्वारा जैसा जानपना कहा है, वैसा वेदन वह नहीं करता। 'आत्मा का शुद्ध-स्वभाव है और बन्धभाव उससे भिन्न है' – ऐसा शास्त्र से जानता है; परन्तु स्वयं अपने ज्ञान में वैसा बन्धरहित शुद्ध स्वानुभव का वेदन नहीं करता, इसलिये वह निर्वेदक है। अनुभवरहित ज्ञान सम्यक् नहीं; अनुभवशून्य अकेला जानपना किस काम का? यद्यपि सूक्ष्मदृष्टि से तो उसका जानपना भी भूलयुक्त है, क्योंकि स्व-संवेदनरूप भेदज्ञान के बिना सच्चा ज्ञान होता ही नहीं।

ज्ञानी कदाचित् भाषा न बोल पाता हो, शास्त्रपाठ न कर पाता हो, तथापि अन्तरंग में अनुभव द्वारा सच्चे भावभासन से उसके सम्यग्ज्ञान का परिणमन हो रहा है और वह मोक्षमार्ग का साधन कर रहा है। अज्ञानी को कदाचित् क्षयोपशम की विशेषता से शास्त्रज्ञान हो, परन्तु अनुभव में

जीवादितत्त्वों का सच्चा भावभासन नहीं होने से वह मोक्षमार्ग को साधना नहीं जानता। वह तो बन्धपद्धति को ही भ्रम से मोक्ष का साधन मानकर साध रहा है। अतः वह न आगमी है, न अध्यात्मी।

प्रश्न – अज्ञानी को अध्यात्मपद्धति नहीं है, इसलिये उसे 'अध्यात्मी भले ही मत कहो, परन्तु आगमपद्धति अर्थात् विकार और कर्म की परम्परा तो उस अज्ञानी को बहुत है, फिर भी उसे 'आगमी' कहने से इन्कार क्यों है?

उत्तर – मिथ्यादृष्टि को विकार तो है अर्थात् आगमपद्धति तो है; परन्तु आगमपद्धति का ज्ञान उसको नहीं है, विकार को विकाररूप से वह जानता नहीं है; इसलिए उसको 'आगमी' नहीं कहा।

यहाँ '**आगमी**' अर्थात् '**आगमपद्धतिवाला**' ऐसा अर्थ नहीं है, अपितु '**आगमी**' अर्थात् '**आगमपद्धति का ज्ञाता**' ऐसा अर्थ होता है। अज्ञानी आगमपद्धति को भी पहचानता नहीं है। विकार स्वयं करता है और कर्म उसमें निमित्त है, यद्यपि वह कर्म विकार नहीं कराता है; तथापि अज्ञानी अपने दोष का उत्पादक परद्रव्य को मानता है। **अपने गुण-दोष का उत्पादक परद्रव्य को मानना तो तत्त्व की मोटी भूल है, अनीति है। प्रत्येक वस्तु और उसके परिणाम पर से निरपेक्ष और स्व से सापेक्ष हैं – ऐसा अनेकान्त है।**

जब ऐसा वस्तुस्वरूप समझे, तब अपने गुण-दोष का उत्पादन परकृत न माने अर्थात् एकत्वबुद्धि से पर में राग-द्वेष न हों, वही जीव भेदज्ञान के द्वारा पर से पृथक् होकर अर्थात् निरपेक्ष होकर स्व-तरफ झुक सकता है और स्व-सापेक्षपने अर्थात् स्वाश्रय से मोक्षमार्ग प्रकट कर सकता है।

पुद्गल के परिणाम भी स्व से सापेक्ष और पर से निरपेक्ष हैं। जगत के सम्पूर्ण पदार्थों और उनकी पर्यायों को परमार्थ से स्व से सापेक्षपना और पर से निरपेक्षपना है; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं

रखतीं। पर्याय की भी अपनी उसप्रकार की शक्ति है, वह भी सचमुच पर की अपेक्षा नहीं रखती। ऐसे वस्तुस्वभाव को अज्ञानी नहीं जानता, इसलिये वह आगमी भी नहीं और अध्यात्मी भी नहीं; अतः मोक्षमार्ग को नहीं साध सकता।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव आगम-अध्यात्म का ज्ञाता है और मोक्षमार्ग का साधक है तथा अज्ञानी जीव आगम-अध्यात्म के स्वरूप को जानता नहीं, अतः मोक्षमार्ग को नहीं साध सकता।

ज्ञानी और अज्ञानी में यही अन्तर है।

–*–

चिन्मूरत दृग्धारी की मोहे

चिन्मूरत दृग्धारी की मोहे, रीति लगत है अटापटी॥टेक॥
बाहिर नारकि कृत दुख भोगै, अंतर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पै तिस, परनति तैं नित हटाहटी॥१॥
ज्ञानविराग शक्ति तैं विधि-फल, भोगत पै विधि घटाघटी।
सदन निवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटाछटी॥२॥
जे भवहेतु अबुध के ते तस, करत बन्ध की झटाझटी।
नारक पशु तिय षँढ विकलत्रय, प्रकृतिन की ह्वै कटाकटी॥३॥
संयम धर न सकै पै संयम, धारन की उर चटाचटी।
तासु सुयश गुनकी 'दौलतके' लगी, रहै नित रटारटी॥४॥

६

ज्ञानी और अज्ञानी

अब मूढ़ तथा ज्ञानी जीव का विशेषपना और भी सुनो –

"ज्ञाता तो मोक्षमार्ग साधना जानता है, मूढ़ मोक्षमार्ग की साधना नहीं जानता।

क्यों? – इसलिए सुनो, मूढ़ जीव आगमपद्धति को व्यवहार कहता है, अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहता है; इसलिए आगम अंग को एकान्तपने साधकर मोक्षमार्ग दिखलाता है, अध्यात्म-अंग के व्यवहार को नहीं जानता – यह मूढ़ दृष्टि का स्वभाव है; उसे इसीप्रकार सूझता है।

क्यों? – इसलिये कि आगम-अंग बाह्यक्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसका स्वरूप साधना सुगम है। उस बाह्यक्रिया को करता हुआ मूढ़जीव अपने को मोक्ष का अधिकारी मानता है; किन्तु अन्तर्गर्भित जो अध्यात्मरूप क्रिया, वह अन्तर्दृष्टिग्राह्य है, उस क्रिया को मूढ़जीव नहीं जानता। अन्तर्दृष्टि के अभाव में अन्तर क्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती, इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ हैं।"

देखो! इसमें मोक्षमार्ग की कितनी स्पष्टता आई है? मोक्षमार्ग तो अन्तर-अनुभव की अध्यात्मक्रिया में है, उस क्रिया को अन्तर्दृष्टि से धर्मी ही जानता है। मोक्षमार्ग की क्रिया बाह्यदृष्टि से ज्ञात नहीं हो सकती। अज्ञानी तो शुभराग और बाहर की क्रिया को ही देखता है, उसी को वह व्यवहार कहता है तथा मोक्षमार्ग भी उसी को मानता है; अन्तर के सच्चे

मोक्षमार्ग को साधना वह नहीं जानता। बाहर की क्रिया और शुभराग में तो मोक्षमार्ग है नहीं।

यहाँ तो पण्डित बनारसीदासजी स्पष्ट कहते हैं कि बाह्यक्रिया करता हुआ मूढ़जीव अपने को मोक्षमार्ग का अधिकारी मानता है। वह अकेली अशुद्धपरिणतिरूप आगमपद्धति को व्यवहार कहता है और अध्यात्मपद्धति के व्यवहार को अर्थात् शुद्धपरिणतिरूप व्यवहार को पहचानता ही नहीं; किन्तु भाई! अशुद्धपरिणति कहीं मोक्षमार्ग का व्यवहार नहीं है, वह तो अशुद्ध व्यवहार है। मोक्षमार्ग में तो मिश्ररूप व्यवहार कहा है अर्थात् किंचित् शुद्धता और किंचित् अशुद्धता – ऐसी मिश्रपरिणति मोक्षमार्ग में होती है, यही मोक्षमार्ग का व्यवहार है। ऐसे व्यवहार को अज्ञानी जानता नहीं। वह तो अध्यात्मपद्धति (शुद्धपरिणति) को निश्चय और आगमपद्धति (अशुद्धपरिणति) को व्यवहार मानता है तथा एकान्त आगमपद्धति को अर्थात् शुभराग और बाह्यक्रिया को मोक्षमार्ग मानता है।

भाई! निर्मल परिणति भी व्यवहार है। जितनी शुद्ध-परिणति है उतना शुद्धव्यवहार है, वह अध्यात्मपद्धति है; उसके बिना मोक्षमार्ग होता नहीं। शुभराग की स्थूल क्रिया अज्ञानी को बाहर में दिखाई देती है, अतः उसकी बात शीघ्र समझ जाता है अर्थात् उसे ही मोक्षमार्ग मान लेता है। बाहर की रागक्रिया में अटके हुए जीवों को अन्तर की शुद्धपर्यायरूप मोक्षमार्ग सूझे ही कहाँ से? अन्तर्मुख अध्यात्मपद्धति और बहिर्मुख आगमपद्धति अर्थात् शुद्धता और अशुद्धता – इन दोनों की भिन्नता को जो पहचानता नहीं तथा मोक्षमार्ग व संसारमार्ग – इन दोनों के भेद को जो जानता नहीं, वह भला मोक्षमार्ग को कैसे साधेगा? अध्यात्मपद्धति और आगमपद्धति इन दोनों की भिन्नता का ज्ञाता ही मोक्षमार्ग का साधन कर सकता है।

अभेदद्रव्य, वह निश्चय और उसकी शुद्धपर्याय, वह व्यवहार है। शुद्धपरिणति, वही शुद्ध-आत्मव्यवहार है; ऐसे शुद्ध निश्चय-व्यवहार

को अज्ञानी जानता नहीं और देहादि की क्रिया अथवा शुभराग को ही वह अपना व्यवहार मानता है तथा उसे ही मोक्षमार्ग समझता है; ऐसे व्यवहार में (राग व देह की क्रिया में) मग्नजीव मोक्षमार्ग को कैसे साध सकेगा?

अज्ञानीजीव शुद्धपरिणतिरूप व्यवहार को तो जानता नहीं और रागादि अशुद्धव्यवहार को मोक्ष का कारण मानता है – यह तो मूढ़ता है। मूढ़जीव ही ऐसे रागादि अशुद्धभाव से अपने को मोक्षमार्ग का अधिकारी मानता है – ऐसा लगभग ४०० वर्ष पहले पण्डित बनारसीदासजी स्पष्ट लिख गए हैं और परम्परा से तो यही बात अनादि से ज्ञानी सन्त समझाते आये हैं।

भाई! तुझे राग का तो अनादि से परिचय है, इसलिये राग की बात तुझे सुगम लगती है। जब कोई राग को मोक्षमार्ग कह दे तो वह बात तेरे हृदय में झट बैठ जाती है, किन्तु वह राग मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो अध्यात्मपद्धतिरूप है, आत्मा के आश्रय से होने वाली शुद्धचेतनापरिणति ही मोक्षमार्ग है; उसके द्वारा ही मोक्ष सुगमता से मिल सकता है, अतः वही सरल मार्ग है – सच्चा मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग से मोक्ष प्राप्ति दुर्गम है, अशक्य है। शुद्धरत्नत्रयरूप जो 'निश्चय मोक्षमार्ग' है, उसी को यहाँ आत्मा का 'शुद्धव्यवहार' – कहा है। प्रवचनसार में भी 'शुद्धचेतनाविलासरूप आत्म व्यवहार' – ऐसा कहा है, वह निर्मलपर्याय की ही बात है। यहाँ उसकी पहचान 'अध्यात्मपद्धति' कहकर कराई है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न अनेक शैलियों में भी मोक्षमार्ग की मूलधारा समानरूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' – ऐसा कहा, उसमें भी यही आशय है। सभी सन्तों के बताये हुये मोक्षमार्ग का स्वरूप एक जैसा ही है।

कहा भी है – ''एक होय त्रयकाल में, परमारथ का पंथ।''

प्रश्न – यदि शुद्धपर्याय मोक्षमार्ग है, जैसा कि ऊपर कथन किया तो फिर पर्याय को अभूतार्थ कहकर छोड़ने के लिए क्यों कहते हो?

उत्तर – अरे भाई! निर्मलपर्याय को छोड़ देने के लिए नहीं कहा, परन्तु उस पर्याय का भेद करके आश्रय करने जाओगे तो विकल्प उत्पन्न होगा; अतः उस विकल्प को छुड़ाने के लिए पर्याय भेद का आश्रय छुड़ाया है। पर्याय भेद का आश्रय छुड़ाने के लिए और अभेद स्वभाव का आश्रय कराने के लिए पर्यायभेद को अभूतार्थ कहा है। जब भेद का आश्रय छोड़कर अन्तर्मुख अभेदस्वभाव का आश्रय करेगा, तब पर्याय अन्तरस्वभाव में अभेदपने लीन होगी और निर्विकल्प अनुभव होगा। ऐसी स्थिति में पर्याय कहीं छूट नहीं जावेगी। हाँ, पर्याय का आश्रय अवश्य छूट जावेगा, पर्यायभेद का विकल्प छूट जावेगा। पर्याय को अभूतार्थ कहने पर कोई निर्मलपर्याय को ही सर्वथा छोड़ देना प्रयोजनभूत समझ ले तो यह उचित नहीं है। समयसार में भी **'आत्मा अप्रमत्त या प्रमत्त नहीं'** – ऐसा कहकर पर्याय के भेद का आश्रय छुड़ाकर एकरूप ज्ञायकस्वभाव का अनुभव कराया है; उस स्वभाव के अनुभव में पर्याय निर्मल होती जाती है, उसका कहीं निषेध नहीं है।

सत् के सभी पक्षों को ज्यों का त्यों समझना चाहिए।

देखो! यह मूल प्रयोजन की सरस बात है। मोक्षमार्ग कैसे साधा जाय, उसकी बात है। मोक्षमार्ग की प्ररूपणा में आजकल अनेक विवाद चल रहे हैं। **कोई कहता है कि शुभोपयोग ही मोक्षमार्ग है, और कोई कहता है कि छठवें गुणस्थान तक शुद्धभाव अथवा निश्चय सम्यक्त्वादि होते ही नहीं। अरे भाई! शुभभाव तो पुण्यबन्ध का कारण है, वह मोक्ष का कारण कैसे होगा? और निश्चय-सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव तो चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है, उसके बिना मोक्षमार्ग अथवा धर्म होगा ही कहाँ से?** किन्तु बहिरात्मा जीव अन्तर के शुद्ध परिणाम को पहचान सकता नहीं, वह तो मात्र बाह्य की स्थूल क्रिया तथा स्थूल राग को ही देखनेवाला है; राग से पार चैतन्यस्वभाव

की बात का उत्साह भी उसको नहीं आता, बल्कि उल्टा उसके प्रति अनादर – अरुचि ही आती है।

मिथ्यादृष्टि जीव को ऐसे विपरीतभाव के कारण ही अनादिकाल से संसार-परम्परा चली आ रही है, उसका अभाव होकर मोक्षप्राप्ति कैसे हो – उसकी बात यहाँ है।

अन्तर के ऐसे मार्ग का आदर करके बार-बार उसका घोलन करना और उसके प्रति अपूर्व उत्साह जागृत करना ही योग्य है।

अन्तरस्वभाव के अनुभव का कोई अपूर्व ही स्वाद है, वह अज्ञानी के लक्ष्य में नहीं आता; राग से भिन्न कोई तत्त्व उसे दिखाई ही नहीं देता। जबकि अनेक सन्त और विद्वान् धर्मात्मा पूर्व में कह गए हैं और वर्तमान में भी कह रहे हैं कि **'शुभराग मोक्षमार्ग है ही नहीं, तथा निमित्तादि परद्रव्य अकिंचित्कर हैं'** – यह सुनकर अपनी विद्वत्ता के अनुचित अभिमान में कोई कहने लगे कि यह तो भावुकता के प्रवाह में उन्होंने खींचकर ऐसा कथन किया है – वास्तविक वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। तो सुनो भाई! हम भी ऐसा कह सकते हैं कि सन्तों और विद्वान् ज्ञानियों ने जो कहा है, वह तो परम सत्य के प्रवाह में रहकर कथन किया है; तुम ही स्वयं असत् और द्वेष के प्रवाह में खिंचकर उनके ऊपर आक्षेप कर रहे हो, तुम्हारा यह बड़ा दुस्साहस है।

प्रश्न :– शास्त्र में अज्ञानी को 'मूढ़' कहा है, क्या यह द्वेष नहीं है?

उत्तर :– नहीं भाई, इसमें द्वेष नहीं है; अपितु अज्ञानभाव कितना अहितकर है, यह समझाते हुए उसे छुड़ाने के लिए करुणाभाव है। किसी के घर में काला सर्प पड़ा हो और उसे इसकी खबर न हो; ऐसी स्थिति में दूसरा कोई सज्जन उसको उसके घर में रहने वाले सर्प की भयंकरता बतावे, तो उसमें उस बताने वाले का हेतु क्या है? उसका हेतु तो यह है कि वह मनुष्य उस काले नाग की भयंकरता जानकर, उसे अपने घर से बाहर निकालने का प्रयत्न करे। उसीप्रकार आत्मस्वभाव से विपरीत-

अभिप्रायरूप भयंकर काला नाग अज्ञानी के घर में बैठ गया है और उसे उसका भान नहीं है, उलटा उसको हितकारी मान रखा है। सन्तज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! ऐसे विषधर सर्प जैसे अहितकारी मिथ्याभाव का तू सेवन कर रहा है! यह भाव छोड़!! – ऐसे मिथ्याभाव का सेवन तो मूढ़ता है।

अब विचार करो कि यहाँ मूढ़ कहने में सामनेवाले के ऊपर द्वेष है या करुणा? अत्यन्त अहितकारी मिथ्याभाव के सेवन से उसे बचाने के लिए करुणापूर्वक यह उपदेश है। सर्वज्ञ के अतीन्द्रिय सुख को अनेक प्रकार से समझाने पर भी जो उसे नहीं मानते, ऐसे जीवों को उनकी गम्भीर भूल की विकरालता समझाने के लिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य जैसे वीतरागी सन्त प्रवचनसार में कहते हैं कि –

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति॥६२॥

अर्थात् जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं, उनका सुख सर्व सुखों में परम अर्थात् उत्कृष्ट है – ऐसे सर्वज्ञशक्ति के वचनों को सुनकर भी जो श्रद्धा नहीं करते, वे अभव्य हैं और जो श्रद्धा करते हैं – स्वीकार करते हैं, वे भव्य हैं।

यहाँ किसी व्यक्तिविशेष की बात नहीं है, यह तो सत्य की पुकार है। सर्वज्ञ का अतीन्द्रिय सुख बतलाकर आत्मा के सुखस्वभाव की ऐसी सरस बात हम सुनाते हैं, यह सुनकर जिसे अन्तरंग उमंग से उत्साह न आवे, वह जीव धर्म प्राप्त करने के लिए अपात्र है। मुमुक्षु को तो अतीन्द्रिय सुख की बात कर्णगोचर होते ही उसकी आत्मा के असंख्य प्रदेश सुखोत्कंठा से झनझनाने लगते हैं। अहा! सन्तों ने समझाने में कोई कसर नहीं रखी। सच्ची जिज्ञासा से पात्र होकर समझना चाहे तो मार्ग एकदम स्पष्ट, सीधा और सरल है। जिसे समझना न हो, झगड़ा ही करना हो, उससे क्या कहें? उसका आत्मा इसीप्रकार परिणमन कर रहा है, उसमें दूसरा कोई

क्या करे? यही जीव जब अपने सत्पुरुषार्थ से सत् को समझकर सत्परिणमन करेगा तो त्रिलोकीनाथ हो जायेगा।

मोक्षमार्ग तो अन्दर का सूक्ष्म अध्यात्मभाव है, वह बाहर से नहीं दिखाई पड़ता। जैसे – दो जीव हों, दोनों बाह्य में दिगम्बर जैन मुनि हों, वस्त्र का ताना भी न हो, मात्र मोर-पींछी व कमण्डलु हो, शुभराग से पंचमहाव्रत दोनों पालते हों, निर्दोष आहार-विहार करते हों, शास्त्रानुसार उपदेश देते हों – यहाँ दोनों मुनियों की इतनी क्रियायें तो बाहर से अज्ञानी को भी दिखाई पड़ती है; परन्तु यह सम्भव है कि अन्तर में उनमें से एक मिथ्यादृष्टि हो और दूसरा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित विराजता हो। वहाँ पहला मुनि तो आगमपद्धति में वर्त्त रहा है, वह मोक्षमार्ग को नहीं साधता और दूसरा मुनि अध्यात्मपद्धति में वर्तते हुए साक्षात् मोक्षमार्ग को साध रहा है। दोनों की बाह्य क्रियायें लगभग एक-सी, किन्तु अन्तर के सूक्ष्म परिणाम में कितना भारी अन्तर है?

देखो! बाहर की क्रिया में अन्तर्गर्भितपने शुद्धस्वभाव अध्यात्म क्रिया एक के तो नहीं वर्तती है, जबकि दूसरे के वर्त रही है। अन्तर की यही अध्यात्म क्रिया वास्तविक मोक्षमार्ग है, उसे अज्ञानी कैसे पहचाने? वह तो दोनों को समान मानकर, बाहर की क्रिया और पंचमहाव्रत के शुभराग को ही मोक्षमार्ग मानेगा; किन्तु भाई! किंचित् अन्तर्दृष्टि से तो देख! **मोक्षमार्ग कहीं बाह्य क्रिया में अथवा राग में नहीं है, वह तो अन्तर के शुद्धभावरूप रत्नत्रय में है – इसको पहचाने तभी तुझे मुनि की सच्ची पहचान हो और तभी मुनिवरों के प्रति सच्ची भक्ति जागृत हो तथा मोक्षमार्ग को साधने की सच्ची रीति भी तभी तेरी समझ में आवे।** ऐसे ज्ञान बिना मोक्षमार्ग साधा नहीं जा सकता। इसतरह अज्ञानी मोक्षमार्ग क्यों नहीं साध सकता – यह यहाँ अत्यन्त स्पष्टतया बतलाया गया है।

– ❋ –

७

सम्यग्दृष्टि द्वारा मोक्षपद्धति की साधना

अब सम्यग्दृष्टि ज्ञाता किसप्रकार मोक्षमार्ग साधता है, वह कहते हैं :-

"सम्यग्दृष्टि कौन है सो सुनो :- संशय, विमोह, विभ्रम - यह तीन भाव जिसमें नहीं, सो सम्यग्दृष्टि। संशय, विमोह, विभ्रम क्या है? उसका स्वरूप दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं। सो सुनो :- जैसे चार पुरुष किसी स्थान में खड़े थे। उन चारों के पास आकर किसी और पुरुष ने एक सीप का टुकड़ा दिखाया और प्रत्येक से प्रश्न किया कि यह क्या है? - सीप है या चाँदी है?

प्रथम ही संशयवान पुरुष बोला - 'कुछ सुध (समझ) नहीं पड़ती कि यह सीप है या चाँदी है? मेरी दृष्टि में इसका निर्धारण नहीं होता।' दूसरा विमोहवान पुरुष बोला - 'मुझे यह कुछ समझ नहीं है कि तुम सीप किससे कहते हो और चाँदी किससे कहते हो? मेरी दृष्टि में कुछ नहीं आता, इसलिए हम नहीं जानते कि तुम क्या कहते हो?' अथवा चुप हो रहता है, बोलता नहीं गहलरूप से। तीसरा विभ्रमवान पुरुष बोला कि - 'यह तो प्रत्यक्षप्रमाण चाँदी है, इसे सीप कौन कहेगा? मेरी दृष्टि में तो चाँदी सूझती है, इसलिये सर्वथा प्रकार यह चाँदी है' - इसप्रकार तीनों पुरुषों ने तो उस सीप का स्वरूप जाना नहीं, इसलिए तीनों ही मिथ्यावादी हैं।

अब चौथा पुरुष बोला - यह तो प्रत्यक्षप्रमाण सीप का टुकड़ा है, इसमें क्या धोखा? सीप...सीप...सीप, इसको जो कोई पुरुष

अन्य वस्तु कहे, वह प्रत्यक्षप्रमाण भ्रामक अथवा अन्ध। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि को स्व-पर स्वरूप में न संशय, न विमोह, न विभ्रम; यथार्थदृष्टि है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्दृष्टि से मोक्षपद्धति को साधना जानता है।"

जिसको आत्मस्वरूप में कोई सन्देह नहीं, जिसने निःशंकपने आत्मस्वरूप को जाना है – ऐसा सम्यग्दृष्टि ही मोक्षमार्ग को साधता है। स्वरूप के निर्णय में ही जिसके भूल पड़ी है, वह मोक्षमार्ग को नहीं साध सकता। यहाँ सीप और चाँदी के दृष्टान्त से यह बात समझाई है। देह ही आत्मा होगी अथवा देह से भिन्न आत्मा होगा? आत्मा देह की क्रिया का कर्त्ता होगा या अकर्त्ता? पुण्य-पाप से धर्म होता होगा या नहीं? इसप्रकार जिसे शंका है, किंचित् भी तत्त्वनिर्णय नहीं – ऐसा संशयदृष्टि वाला मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग को साध नहीं सकता। विकार और स्वभाव की भिन्नता का अथवा जड़-चेतन की भिन्नता का सच्चा विचार ही उसे नहीं है, अतः संशयग्रस्त है।

पुनश्च दूसरा विमोहवान पुरुष भी – स्वभाव क्या, परभाव क्या, बंधमार्ग क्या, मोक्षमार्ग क्या? – इसका सही निर्णय नहीं करता; कभी ऐसा लगे कि वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग होगा तथा व्यवहार के पक्ष की बात सुनने पर ऐसा लगने लगे कि शुभराग भी मोक्ष का साधन होगा – इसप्रकार अनिश्चयपना वर्त्तता रहे तो उसकी परिणति स्वभाव की तरफ कैसे ढलेगी? निःसन्देह दृढ़निर्णय बिना परिणति अन्दर में झुकेगी नहीं और मोक्षमार्ग सध सकेगा नहीं। जैसे चाँदी का टुकड़ा है या सीप का? इसके सत्यनिर्णय बिना उसे छोड़ना या ग्रहण करना – यह निश्चय नहीं हो सकता। वैसे ही स्वभाव क्या और परभाव क्या, कौनसा भाव बन्धमार्ग और कौनसा मोक्षमार्ग? इसके यथार्थ निर्णय बिना, कौनसा भाव रखना और कौनसा छोड़ना, अथवा कौनसे भाव की तरफ झुकना और कौनसे

भाव से विमुख होना – यह निश्चय नहीं हो सकता अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं सध सकता। शुभराग छोड़ने योग्य है अथवा रखने योग्य है – ऐसा निर्णय भी जो न कर सके, उसकी परिणति राग से विमुख होकर स्वभाव सन्मुख कैसे हो? उसकी परिणति तो अस्थिर ही रहेगी अर्थात् चैतन्य में स्थिर हुए बिना वह मोक्षमार्ग का साधन नहीं कर सकेगा।

तीसरा पुरुष जो विभ्रम-बुद्धि से सीप को चाँदी ही मानकर अंगीकार कर रहा है, उसे भी सीप छोड़कर चाँदी ग्रहण करने का अवकाश नहीं है। उसीप्रकार मूढ़जीव भ्रमबुद्धि से शुभरागादि परभाव को ही दृढ़तापूर्वक मोक्षमार्ग मान रहा है, इसलिए उसको भी राग छोड़कर वीतराग स्वभाव की तरफ ढलने का अवकाश नहीं है अर्थात् वह भी मोक्ष को नहीं साध सकता। शुभराग मोक्ष का साधन है – ऐसा विपरीत निर्णय करनेवाला जीव राग से हटकर वीतराग स्वभाव में कहाँ से आयेगा? इसप्रकार संशय, विमोह व विभ्रमवाला जीव मोक्षमार्ग को नहीं साध सकता; यथार्थवस्तु के दृढ़निर्णय वाला ही मोक्षमार्ग को साधता है।

चौथा पुरुष स्पष्ट जानता है कि यह तो निश्चितरूप से सीप ही है, चाँदी नहीं। वह सीप और चाँदी – दोनों के यथार्थ स्वरूप को पहचानता है। हजार मनुष्य सीप को चाँदी कहें, तथापि अपने सम्यक् निर्णय में उसे शंका नहीं होती। उसी प्रकार धर्मी जीव अपने चिदानन्द स्वरूप में निःशंक है, स्व-पर तथा स्वभाव-परभाव को बराबर भिन्न जानता है; अध्यात्मपद्धतिरूप शुद्धपरिणति ही मोक्षमार्ग है और आगमपद्धतिरूप विकारपरिणति मोक्षमार्ग नहीं है, वह तो बन्धमार्ग ही है – ऐसा वह निश्चित जानता है, उसमें वह अत्यन्त निःशंक और दृढ़ है। हज़ारों-लाखों मनुष्य विपरीत मानें या कहें तो भी अपने सम्यक्-निर्णय में उसे सन्देह न पड़े, निर्णय में किंचित् भी ढील न आवे, वही निःशंकपने स्वभाव की तरफ ढलकर मोक्षमार्ग को साध लेता है।

शास्त्र में कहीं निमित्त से अथवा व्यवहार से शुभ रागादि को धर्म का कारण कहा हो तो भी धर्मीजीव भ्रमित नहीं होता। वह निःशंक समझता है कि यह तो मात्र उपचार कथन है, वास्तव में ऐसा है नहीं। राग तो धर्म है ही नहीं, राग तो निश्चितरूप से विभाव....विभाव और विभाव है वह मेरा स्वभाव नहीं, वह मोक्ष का साधन भी नहीं; जो कोई उसे मोक्ष का साधन मानता है, वह निश्चित अज्ञानी है; ऐसे दृढ़-निर्णय के बल से वह निजस्वभाव को साधता है, स्वभावाश्रित मोक्षमार्ग को साधता है। इसतरह सम्यग्दृष्टि-ज्ञाता अन्तर्दृष्टि से मोक्षपद्धति को साधना जानता है।

यह सम्यग्दृष्टि के विचार का वर्णन चल रहा है। सम्यग्दृष्टि तो निजस्वरूप के सम्यक्-निर्णय के बल से अध्यात्मपद्धति से मोक्षमार्ग को साधना जानता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि तो भ्रम से आगम पद्धति को मोक्ष का साधन मानकर अकेली आगमपद्धति (अशुद्ध परिणति) में ही वर्त्तता है, इसलिए वह मोक्षमार्ग को नहीं साध सकता, क्योंकि मोक्षमार्ग आगमपद्धति के आश्रित नहीं है। •

..........जगवासी जिय सोइ

क्रिया एक करता जुगल, यौं न जिनागम मांहि।
अथवा करनी और की, और करे यौं नाँहि।।२१।।
करैं और फल भोगवैं, और बने नहिं एम।
जो करता सो भोगता, यहै यथावत जेम।।२२।।
भावकरम करतव्यता, स्वयंसिद्ध नहिं होइ।
जो जग की करनी करै, जगवासी जिय सोइ।।२३।।
जिय करता जिय भोगता, भावकरम जियचाल।
पुद्गल करै व भोगवै, दुविधा मिथ्याजाल।।२४।।
तातैं भावित करम कौं, करै मिथ्याती जीव।
सुख-दुःख आपद-संपदा भुञ्जै सहज सदीव।।३५।।

– पण्डित बनारसीदासजी

नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार

८

मोक्षमार्ग की सरस बात

"सम्यग्दृष्टि बाह्यभाव को बाह्यनिमित्तरूप मानता है, वह निमित्त नानारूप है, एकरूप नहीं है; इसलिए अन्तर्दृष्टि के प्रमाण में मोक्षमार्ग साधता है। सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण की कणिका जागने पर मोक्षमार्ग सच्चा है। मोक्षमार्ग को साधना सो व्यवहार और शुद्धद्रव्य अक्रियरूप सो निश्चय। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है, मूढ़जीव न जानता है और न मानता है। मूढ़जीव बन्धपद्धति को साधकर मोक्षमार्ग कहता है, किन्तु ज्ञाता इस बात को नहीं मानता। क्यों? इसलिए कि बन्ध के साधने से बन्ध सधता है, मोक्ष नहीं सधता।"

देखो, यह मोक्षमार्ग की सरस बात! धर्मी जीव किसप्रकार से मोक्षमार्ग साधता है और अज्ञानी उसमें क्या भूल करता है – यहाँ यह बात बताई है। धर्मी जीव को सन्देहरहित स्वानुभवपूर्वक दृढ़ निर्णय है कि ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ। मेरा मोक्षमार्ग मेरे ज्ञानस्वरूप के आश्रय से ही है। त्रिकाली शुद्धद्रव्य – वह मेरा निश्चय और उसके आश्रय से प्रकटी हुई शुद्धपर्याय – वह मेरा व्यवहार; इसके अतिरिक्त रागादि परभाव – वे मेरे से बाह्य हैं। देखो, यहाँ व्यवहार किसको कहा? **शुद्धद्रव्य के आश्रय द्वारा निर्मलपर्याय से मोक्षमार्ग को साधना, वह धर्मी का व्यवहार है। अज्ञानी को ऐसा व्यवहार होता नहीं और ऐसे व्यवहार को वह जानता भी नहीं।**

शुद्धद्रव्य, वह निश्चय और शुद्धपरिणति, वह व्यवहार – ऐसा कहकर निश्चय-व्यवहार दोनों को एक ही वस्तु का अंग बताया। यहाँ रागादि

अन्य भावों को व्यवहार नहीं कहा, किन्तु 'निमित्त' कहकर उनको भिन्न बताया। यह बहुत सरस बात है। यह व्यवहार स्वयं में है और निमित्त पर में है। निश्चय-व्यवहार – दोनों ही एक प्रकार के हैं, एक ज्ञान जाति के हैं और परभावरूप निमित्त तो अनेक प्रकार के हैं। जिसप्रकार बाह्यद्रव्य निमित्त हैं, उसके आधार से मोक्षमार्ग नहीं है; उसीप्रकार अन्दर का शुभराग भी बाह्यद्रव्य के समान निमित्त है, उसके आधार से भी मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग में तो जैसे अन्यद्रव्य बाह्य (भिन्न) है, वैसे ही शुभराग भी बाह्य है, भिन्न है। अन्तर्दृष्टि से धर्मी जीव ऐसे मोक्षमार्ग को साधता है। स्वभाव की अन्तर्दृष्टिपूर्वक ही मोक्षमार्ग साधा जाता है, इस अन्तर्दृष्टि के बिना मोक्षमार्ग साधा नहीं जा सकता।

ऐसी अन्तर्दृष्टि बिना अज्ञानी शुभराग करें और इस व्यवहार रत्नत्रयादि के शुभराग को ही मोक्षमार्ग मान ले, तथापि वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है – वह तो मात्र भ्रम ही है। **सम्यग्दर्शन हो और स्वानुभव की कणिका जागे, तब ही मोक्षमार्ग सच्चा; इसके बिना मोक्षमार्ग नहीं।** अरे! सम्यग्दर्शन और स्वानुभव बिना, अकेले शुभराग को मोक्षमार्ग मानना – वह तो वीतराग जैनमार्ग की विराधना है। जिनेन्द्र भगवान ने ऐसा मोक्षमार्ग नहीं कहा; उन्होंने तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहा है, जो स्वानुभवपूर्वक ही होता है। स्वरूपाचरण चारित्र भी चतुर्थ गुणस्थान में स्वानुभवपूर्वक ही प्रकट होता है। स्वानुभव बिना शुभराग करते-करते मोक्षमार्ग प्रकट हो जाये – ऐसा कभी बन नहीं सकता। यहाँ तो कहते हैं कि वह शुभराग बाह्यनिमित्तरूप है। जो जीव अन्तर्दृष्टि से मोक्षमार्ग को साधता है, उसी को वह शुभभाव बाह्यनिमित्त है। **अज्ञानी को तो वह शुभभाव मोक्षमार्ग का निमित्त भी नहीं। उपादान में ही जो मोक्षमार्ग को नहीं साधता तो फिर मोक्षमार्ग का निमित्त भी उसको कैसा?** अध्यात्मपद्धति ही उसको नहीं है, वह तो मात्र बन्धपद्धति को ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें रच-पच रहा है।

मोक्षमार्ग में गमन करते हुए बीच में शुभराग को निमित्तरूप कहा, वह शुभराग सभी मोक्षमार्गियों को एक ही प्रकार का होता है – ऐसा नहीं है; उसमें अनेक प्रकार होते हैं। स्वभाव के परिणाम तो एक सरीखे हों, परन्तु विकार के परिणाम एक सरीखे नहीं होते। द्रव्यस्वभाव तो त्रिकाल एक सरीखा है। अखण्ड-अक्रिय शुद्धद्रव्य वह निश्चय और उसके आश्रय से मोक्षमार्ग साधना – वह व्यवहार। मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चय-रत्नत्रय परिणति – वह धर्मी का व्यवहार है और जो व्यवहार-रत्नत्रय (शुभरागरूप) है – वह तो बाह्यनिमित्त रूप है। यहाँ मोक्षमार्गपर्याय को व्यवहार कहा, यह मोक्षमार्ग कहीं रागवाला नहीं है; व्यवहार-रत्नत्रय रागरूप है, वह बन्धपद्धति में है, और निश्चय-रत्नत्रय मोक्षमार्गपद्धति में है। मोक्षमार्ग तथा निश्चय व्यवहार का ऐसा स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है, मूढ़ – अज्ञानी को उसकी खबर ही कहाँ है? यदि सुनने में भी आ जावे तो यह बात उसके अन्तर में जमती नहीं, बैठती नहीं; वह तो बन्धपद्धति को (राग को) ही साधता हुआ, उसे ही मोक्षमार्ग मानता है।

भाई ! राग तो बन्धभाव है, इससे मोक्ष कहाँ से सधेगा? अरे, बन्धभाव और मोक्षभाव के अन्तर का भी जिसे विवेक नहीं, उसे शुद्धात्मा का वीतरागी संवेदन कहाँ से होगा? और स्वानुभव की किरण प्रस्फुटित हुए बिना मोक्षमार्ग का प्रकाश कहाँ से प्रकट होगा? अज्ञानी को स्वानुभव की कणिका भी नहीं, तो फिर मोक्षमार्ग कैसा? स्वानुभव के बिना जितने भी भाव करे वे सब भाव बन्धपद्धति में ही समाविष्ट होते हैं, उनसे बन्धन ही सधता है, वे कोई भी भाव मोक्षमार्ग में नहीं आते; इसलिए मोक्ष नहीं सधता।

जिसप्रकार राजमार्ग की सीधी सड़क के बीच में काँटे-कंकड़ नहीं होते; उसीप्रकार मोक्ष का यह सीधा व स्पष्ट राजमार्ग, उसके बीच में राग की रुचिरूपी काँटे-कंकड़ नहीं हो सकते। सन्तों ने शुद्धपरिणतिरूप राजमार्ग से मोक्ष को साधा है और वही मार्ग जगत को दर्शाया है।

प्रश्न – यह राजमार्ग है तो दूसरा कोई ऊबड़-खाबड़ मार्ग तो होगा न?

उत्तर – ऊबड़-खाबड़ मार्ग भी राजमार्ग से विरुद्ध नहीं होता। राजमार्ग पूर्व की तरफ जाता हो और ऊबड़-खाबड़ मार्ग पश्चिम की तरफ जाता हो — ऐसा तो नहीं बनता। भले मार्ग ऊबड़-खाबड़ हो, परन्तु उसकी दिशा तो राजमार्ग की तरफ ही होगी न? उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान उपरान्त शुद्धोपयोगी चारित्रदशा – वह तो मोक्ष का सीधा राजमार्ग है, उससे तो उसी भव में ही केवलज्ञान और मोक्षपद प्राप्त हो सकता है और ऐसी चारित्रदशा बिना जो सम्यग्दर्शनज्ञान है, वह अभी अपूर्ण मोक्षमार्ग होने से ऊबड़-खाबड़ कहा जाता है, वह कुछ ही भव में मोक्षमार्ग पूर्ण करके मोक्ष को साधेगा। पूर्ण मोक्षमार्ग अथवा अपूर्ण मोक्षमार्ग, परन्तु इन दोनों की दिशा तो स्वभाव तरफ की ही है; एक की भी दिशा राग की तरफ नहीं है। रागादिभाव तो मोक्षमार्ग से विपरीत हैं अर्थात् बन्धमार्ग है, इन रागादि से मोक्षमार्ग नहीं सध सकता। मोक्षमार्ग के आश्रय से बन्धन नहीं और बन्धमार्ग के आश्रय से मोक्ष नहीं।

राग के समय उसका निषेध करनेवाला जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, वही मोक्षमार्ग है। ऐसा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान उदित होने पर ही सच्चा मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। सम्यग्दृष्टि स्वानुभव के प्रमाण में मोक्षमार्ग साधता है। शुभराग के प्रमाण में मोक्षमार्ग नहीं सधता – वह तो बन्धपद्धति है।

"तो क्या सम्यग्दृष्टि अध्यात्म के ही विचार में रहता होगा? क्या बन्धपद्धति का विचार ही उसको नहीं आता होगा?" ऐसा किसी को प्रश्न उत्पन्न हो तो अग्रिम प्रकरण में उसका समाधान करेंगे।

– ✻ –

१

ज्ञाता का मिश्रव्यवहार

जब ज्ञाता कदाचित् बन्धपद्धति का विचार करता है, तब वह जानता है कि इस बन्धपद्धति से मेरा द्रव्य अनादिकाल से बन्धरूप चला आया है; अब इस पद्धति का मोह तोड़कर प्रवर्त्त। इस पद्धति का राग पूर्व की भाँति हे नर! तू किसलिए करता है? – इस भाँति क्षणमात्र भी बन्धपद्धति में वह मग्न नहीं होता। वह ज्ञाता अपना स्वरूप विचारता है, अनुभव करता है, ध्याता है, गाता है, श्रवण करता है; तथा नवधाभक्ति, तप, क्रिया आदि अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होकर करता है। यह ज्ञाता का आचार है, इसी का नाम मिश्रव्यवहार है।

देखो, यह साधक जीव का व्यवहार और उसकी विचार श्रेणी। इसको स्वभाव का कितना रंग है। बार-बार उसका ही विचार उसका ही मनन, उसके ही ध्यान-अनुभव का अभ्यास, उसका ही गुणगान, उसका ही श्रवण, सर्वप्रकार से उसकी ही भक्ति। वह जिस किसी क्रिया में प्रवर्त्तता है, उसे उसमें सर्वत्र शुद्धस्वरूप की सन्मुखता ही मुख्य है। इसके विचार में भी स्वरूप के विचार की मुख्यता है, इसलिए कहा कि – **ज्ञाता कदाचित् बन्धपद्धति का विचार करे – तब भी उस बन्धपद्धति में वह मग्न नहीं होता, किन्तु उससे छूटने का ही विचार करता है**। अज्ञानी तो सब-कुछ राग का सन्मुखता से करता है, शुद्धस्वरूप की सन्मुखता उसको है नहीं। वह कर्मबन्धन आदि का विचार करता है, तो उसमें ही मग्न हो जाता है और अध्यात्म एक तरफ पडा रह जाता है। अरे भाई! ऐसी बन्धपद्धति में तो

अनादि से तू वर्त ही रहा है, अब तो इसका मोह छोड़! अनादि से इस पद्धति में तेरा किंचित् भी हित हुआ नहीं, अतः इसका मोह तोड़कर अब तो अध्यात्मपद्धति प्रकट कर! ज्ञानियों ने तो इसका मोह तोड़कर अध्यात्मपद्धति प्रकट की है, किन्तु अभी राग की कुछ परम्परा शेष है, उसको भी अध्यात्म की उग्रता से निरस्त करना चाहते हैं अर्थात् राग की पद्धति में वे एकक्षण भी मग्न नहीं होते। देखो, यह मोक्ष के साधक की दशा! **'तू रूचतां जग तनी रुचि आलसे सौ'** शुद्धात्मारूप समयसार की जहाँ रुचि हुई, वहाँ परभाव की रुचि रहती ही नहीं! अरे, समस्त जगत की रुचि छूट जाती है। जिसकी अंशमात्र भी राग की रुचि रहे, उसके परिणाम चैतन्य की ओर नहीं झुक सकते और मोक्षमार्ग नहीं सध सकता।

राग की रुचि छोड़कर धर्मी जीव चैतन्य के प्रेम में ऐसा मग्न है कि बार-बार उसका ही स्वरूप विचारता है, उपयोग को पुनः पुनः आत्मा की तरफ लगाता है, कभी-कभी निर्विकल्प अनुभव करता है, एकाग्रता से आत्मा का ध्यान करता है। **'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो'** – इसप्रकार सिद्ध जैसा निजस्वरूप का अनुभव करता है; इसकी बात सुनते ही उत्साहित हो जाता है, इसका गुणगान एवं महिमागान करते ही उल्लसित हो जाता है। अहा! मेरी चैतन्यवस्तु अचिन्त्य महिमावन्त है, इसके समक्ष रागादि परभाव तो अवस्तु हैं – इस अवस्तु की रुचि कौन करे? इसकी महिमा, इसका गुणगान कौन करे? सम्यग्दृष्टि तो अपने शुद्धस्वरूप की नवधाभक्ति करता है अथवा मुनिराज की नवधाभक्ति करे, उसमें भी शुद्धस्वरूप की सन्मुखता है। इस वचनिका के लेखक पण्डित श्री बनारसीदासजी ने समयसार नाटक के मोक्षद्वार में ज्ञानी कैसी नवधाभक्ति करता है, इसका सुन्दर वर्णन किया है :–

श्रवण कीर्त्तन चिन्तवन सेवन वन्दन ध्यान।
लघुता समता एकता-नवधा भक्ति प्रधान॥८॥

(१) श्रवण – उपादेयरूप अपने शुद्धस्वरूप के गुणों का प्रेमपूर्वक श्रवण करना, वह एक प्रकार की भक्ति है। जिसके प्रति जिसको भक्ति हो, उसको उसके गुणगान सुनते ही प्रमोद आता है; धर्मी जीव को निजस्वरूप का गुणगान सुनने पर प्रमोद आता है।

(२) कीर्त्तन – चैतन्य के गुणों का उसकी शक्तियों का व्याख्यान करना, महिमा करना ही उसकी भक्ति है।

(३) चिन्तन – जिसके प्रति भक्ति हो, उसके गुणों का बार-बार विचार करता है, धर्मी जीव निजस्वरूप के गुणों का बार-बार चिन्तवन करता है। यह भी स्वरूप की भक्ति का एक प्रकार है।

(४) सेवन – अन्दर में निजगुणों का पुनः पुनः अध्ययन-मनन करना।

(५) वन्दन – महापुरुषों के चरणों में जैसे भक्ति से वन्दन करता है, वैसे ही चैतन्य स्वरूप में परमभक्तिपूर्वक वन्दना, नमना, उसमें लीन होकर परिणमन करना; वह सम्यग्दृष्टि की आत्मभक्ति है।

(६) ध्यान – जिसके प्रति परमभक्ति होती है, उसका बार-बार ध्यान हुआ करता है; उसके गुणों का विचार, उपकारों का विचार बार-बार आता है, उसीतरह धर्मी जीव अत्यन्त प्रीतिपूर्वक बार-बार निजस्वरूप के ध्यान में प्रवर्त्तता है।

यहाँ कोई कहे कि हमको निजस्वरूप के प्रति प्रीति और भक्ति तो बहुत है, परन्तु उसके विचार में या ध्यान में मन बिल्कुल नहीं लगता तो उसकी बात झूठी है। जिसकी वास्तविक प्रीति होगी, उसके विचार या चिन्तन में मन न लगे – ऐसा नहीं हो सकता। अन्य विचारों में तो तेरा मन लगता है और यहाँ स्वरूप के विचार में तेरा मन लगता नहीं – इस बात से तेरे परिणामों का माप निकलता है कि स्वरूप के प्रेम की अपेक्षा अन्य पदार्थों के प्रति प्रेम तुझे विशेष है। जैसे घर में किसी मनुष्य को खाने-

पीने, बोलने-चालने में मन न लगता हो तो लोग अनुमान लगा लेते हैं कि इसका मन कहीं अन्यत्र लग गया है; उसीप्रकार **चैतन्य में जिसका मन लग जाये, सच्चा प्रेम जग जाये, उसका मन जगत के सभी पदार्थों से उदास हो जाता है और बार-बार निजस्वरूप की तरफ ही उपयोग झुकता है।** इसप्रकार स्वरूप के ध्यानरूप भक्ति सम्यग्दृष्टि के होती है तथा ऐसे स्वरूप को साधनेवाला जीव पंचपरमेष्ठी आदि के गुणों को भी भक्तिपूर्वक ध्याता है।

(७) लघुता – पंचपरमेष्ठी आदि महापुरुषों के समक्ष धर्मी जीव को अपनी अत्यन्त लघुता भासती है। अहा! कहाँ इनकी महान दशा और कहाँ मेरी अल्पता! अथवा सम्यग्दर्शनादि और अवधिज्ञानादि हुए, किन्तु चैतन्य के केवलज्ञानादि अपार गुणों के समक्ष तो अभी बहुत अल्पता है इसतरह धर्मी को अपनी पर्याय में लघुता भासित होती है। पूर्णता का भान है, इसलिए अल्पता व लघुता भासती है; जिसको पूर्णता का भान नहीं है, उसको तो थोड़े में ही बहुत मालूम होने लगता है।

(८) समता – समस्त जीवों को शुद्धभाव की अपेक्षा समान देखना, उसका नाम समता है; परिणाम को चैतन्य में एकाग्र करने पर समभाव प्रगट होता है। जिसप्रकार महापुरुषों के समीप में क्रोधादि विषमभाव नहीं होते, उसीप्रकार चैतन्य के साधक जीव को क्रोधादि उपशान्त होकर अपूर्व समता प्रकट होती है।

(९) एकता – एकमात्र आत्मा को ही अपना मानना, शरीरादि को पर जानना, रागादि भावों को भी स्वरूप से भिन्न जानना और अन्तर्मुख होकर स्वरूप के साथ एकत्व करना – ऐसी एकता अभेदभक्ति है, वही मुक्ति का कारण है और वह सम्यग्दृष्टि को ही होती है।

वाह! देखो यह सम्यग्दृष्टि की नवधाभक्ति! वह शुद्ध आत्मस्वरूप के श्रवण, कीर्त्तन, चिन्तवन, सेवन, वन्दन, ध्यान, लघुता, समता, एकता – ऐसी नवधाभक्ति से मोक्षमार्ग साधता है।

प्रश्न – ज्ञानी नवधाभक्ति करता है यह तो ठीक, किन्तु वह तप भी करता है क्या?

उत्तर – हाँ, ज्ञानी तप भी करता है, किन्तु किस रीति से? अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होकर वह तप वगैरह क्रियायें करता है – यह ज्ञानी का आचार है। ज्ञानी के ऐसे अन्तरंग-आचार को अज्ञानी पहचानता नहीं है, वह तो मात्र शारीरिक क्रिया को ही देखता है। शुद्धस्वरूप की सन्मुखता से जितनी शुद्धपरिणति हुई, उतना ही तप है – ऐसा धर्मी जानता है।ऐसा तप अज्ञानी के होता नहीं, अतः वह उसे पहचानता भी नहीं। तप वगैरह का शुभराग बाह्यनिमित्त है तथा देह की क्रिया तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न वस्तु है – उसके बदले अज्ञानी तो इसको ही मूलवस्तु मान बैठा है और वास्तविक मूलवस्तु को भूल गया है। शुभराग और साथ में भूमिका योग्य शुद्धपरिणति – यह ज्ञानी का आचार है और इसी का नाम मिश्रव्यवहार है। मिश्र का अर्थ है – किंचित् शुद्धता और किंचित् अशुद्धता। उसमें जो अशुद्ध अंश है, वह धर्मी को भी आस्रव-बन्ध का कारण है और जो शुद्ध अंश है, वह संवर-निर्जरा का कारण है। इसप्रकार आस्रव-बन्ध और संवर-निर्जरा – यह चारों भाव धर्मी को एकसाथ वर्त्तते हैं। अज्ञानी के मिश्रभाव है नहीं, उसके तो अकेली अशुद्धता ही है तथा सर्वज्ञ के मिश्रभाव नहीं, अकेली शुद्धता ही है। मिश्रभाव साधक दशा में ही होता है और उसमें शुद्ध परिणति के अनुसार वह मोक्षमार्ग को साधता है।

अहा! धर्मात्मा की यह 'अध्यात्मकला....अलौकिक है भाई, अलौकिक... यह कहना ही सचमुच साधने जैसा है और इसी का प्रचार-प्रसार करने जैसा है, क्योंकि वास्तविक सुख इसी अध्यात्मकला से प्राप्त होता है। अध्यात्म विद्या के अतिरिक्त अन्य लौकिक विद्याओं की कीमत

धर्म में किंचित् भी नहीं। **'सा विद्या या विमुक्तये'** – आत्मा को मोक्ष का कारण न हो, ऐसी विद्या को विद्या कौन कहे?

जिसने अध्यात्म विद्या जानी है, ऐसे ज्ञानी के मिश्रव्यवहार कहा है अर्थात् शुद्धता और अशुद्धता – दोनों ही एकसाथ उसके होती है; परन्तु एक साथ होने पर भी शुद्धता और अशुद्धता एक दूसरे में मिल नहीं जाती। जो अशुद्धता है, वह कहीं शुद्धतारूप नहीं हो जाती और जो शुद्धता है, वह कहीं अशुद्धतारूप (रागादिरूप) नहीं हो जाती। एक साथ होने पर भी दोनों की भिन्न-भिन्न धारा है। इसप्रकार 'मिश्र' शब्द दोनों का भिन्नत्व सूचक है एकत्व सूचक नहीं। उसमें से जो शुद्धता है, उसके द्वारा धर्मी जीव मोक्षमार्ग को साधता है और जो अशुद्धता है, उसको वह हेय समझता है।

– ❋ –

पण्डित बनारसीदासजी कृत

उपादान-निमित्त दोहा

गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बलहीन।
ज्यों नर दूजे पाँव बिन, चलवे को आधीन ॥१॥
हौं जाने था एक ही, उपादान को काज।
थकै सहाई पौन बिन, पानी माँहि जहाज ॥२॥
ज्ञान बैन किरिया चरन, दोऊ शिवमय धार।
उपादान निहचैं जहाँ, तहँ निमित्त व्यवहार ॥३॥
उपादान निजगुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परवान विधि, विरला बूझे कोय ॥४॥
उपादान बल जहँ तहाँ, नहिं निमित्त को दाव।
एक चक्रसौं रथ चले, रवि को यहै स्वभाव ॥५॥
सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन।
ज्यों जहाज परवाह में, तिरे सहज बिन पौन ॥६॥
उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेस।
बसै जु जैसे देश में, करे सु तैसे भेस ॥७॥

१०

हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप ज्ञाता की चाल

हेय अर्थात् त्यागरूप तो अपने द्रव्य की अशुद्धता, ज्ञेय अर्थात् विचाररूप अन्य षट्द्रव्यों का स्वरूप, उपादेय अर्थात् आचरणरूप अपने द्रव्य की शुद्धता। उसका विवरण – गुणस्थान प्रमाण हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप शक्ति ज्ञाता की होती है। ज्यों-ज्यों ज्ञाता की हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप शक्ति वर्धमान हो, त्यों-त्यों गुणस्थान की बढ़वारी कही है।

गुणस्थान प्रमाण ज्ञान, गुणस्थान प्रमाण क्रिया। उसमें विशेष इतना कि एक गुणस्थानवर्त्ती अनेक जीव हों तो अनेकरूप ज्ञान कहा जाता है, अनेकरूप क्रिया कही जाती है। भिन्न-भिन्न सत्ता के प्रमाण से एकता नहीं मिलती। एक-एक जीवद्रव्य में अन्य-अन्यरूप औदयिकभाव होते हैं, उन औदयिक भावानुसार ज्ञान की अन्य-अन्यता जानना।

विशेष इतना कि किसी जाति का ज्ञान ऐसा नहीं होता कि परसत्तावलम्बनशीली होकर मोक्षमार्ग साक्षात् कहे। क्यों? अवस्था प्रमाण परसत्तावलम्बक है। (परन्तु) परसत्तावलम्बी ज्ञान परमार्थता नहीं कहता। जो ज्ञान स्वसत्तावलम्बनशीली होता है – उसी का नाम ज्ञान है।

देखो, यह धर्मी की विचारधारा! धर्मात्मा परद्रव्य को तो अपने से भिन्न जानता ही है, वह तो भिन्न ही है। अर्थात् उसमें कुछ त्यागपना और ग्रहणपना तो आत्मा के है ही नहीं, वे समस्त परद्रव्य तो ज्ञेयरूप हैं।

अब, जो कुछ भी ग्रहण-त्यागरूप है, वह सब अपने में ही है। अपनी अवस्था में जो अशुद्धता है, वह हेय है; अशुभराग हो या शुभराग हो – वह अशुद्ध है, इसलिये हेय है; उसके किसी भी अंश को धर्मी जीव उपादेय नहीं मानता।

अपने द्रव्य की शुद्धता ही उपादेय है। शुद्धद्रव्य को दृष्टि में लेकर उसमें एकाग्रता करने पर पर्याय भी शुद्ध होती जाती है। पर्याय अपेक्षा से पूर्ण शुद्धतारूप मोक्ष उपादेय है, सम्यग्दर्शनादि शुद्ध पर्याय भी उपादेय है। शुद्धद्रव्य को श्रद्धा-ज्ञान में लेने पर ही शुद्धद्रव्य को उपादेय किया – ऐसा कहा जाता है। इसतरह अपने द्रव्य की शुद्धता ही उपादेय है; इसके अतिरिक्त समस्त परद्रव्य तो मात्र ज्ञेय हैं, हेय अथवा उपादेय नहीं।

प्रश्न – परद्रव्य हेय-उपादेय नहीं तो क्या सिद्धभगवान आदि पंचपरमेष्ठी भी उपादेय नहीं?

उत्तर – भाई! धैय पूर्वक यह बात समझने जैसी है। क्या सिद्धभगवान या पंचपरमेष्ठी में से उनका एक भी अंश तेरे में आता है? जब उनका कोई भी अंश तेरे में नहीं आता, तो तू उनको उपादेय किसप्रकार करेगा? हाँ, तुझे यदि पंचपरमेष्ठी पद वास्तव में प्रिय और उपादेय लगता है तो अपने द्रव्य की शुद्धता की ओर जा! और उसमें से शुद्धपर्यायरूप परमेष्ठीपद प्रगट कर! इसतरह तू स्वयं ही पंचपरमेष्ठी में मिल जा! इसलिए कहा भी है कि – **'पंचपदव्यवहार से, निश्चय आतम माँहि'** अर्थात् आत्मसन्मुख होना ही पंचपरमेष्ठी को उपादेय करने की रीति है।

सिद्ध वगैरह को यहाँ ज्ञेय कहा है, अतः उनका स्वरूप विचार कर! जो उनको वास्तव में ज्ञेय बनावे तो उस ज्ञान में अपना शुद्धात्मा उपादेय ही हो जाय – ऐसा नियम है। **अपने शुद्धात्मा को जो ज्ञान उपादेय नहीं करता, वह ज्ञान सिद्ध वगैरह पंचपरमेष्ठी का सच्चा स्वरूप भी नहीं पहचान सकता अर्थात् उनको वास्तव में ज्ञेय नहीं बना सकता, साथ ही परभावों को हेय भी नहीं बना सकता।** इसप्रकार जहाँ शुद्धात्मा

का उपादेयपना है, वहाँ ही सिद्ध वगैरह का ज्ञेयपना और परभावों का हेयपना है। हेय, ज्ञेय और उपादेय की ऐसी पद्धति धर्मात्मा के ही होती है, अज्ञानी के तो उसमें नियम से विपरीतता होती है।

शुद्धात्मा को उपादेय करके जैसे-जैसे स्वसन्मुखता वृद्धिंगत होती जाती है, वैसे-वैसे परभाव छूटते जाते हैं और ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है; तथा शुद्धता बढ़ने पर गुणस्थान भी बढ़ता है। ज्ञानी के जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे हेय-ज्ञेय-उपादेय शक्ति भी बढ़ती जाती है।

प्रश्न – ज्ञानी के जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अशुद्धता छूटती जाती है और शुद्धता बढ़ती जाती है अर्थात् हेय और उपादेय शक्ति तो बढ़ती जाती है; परन्तु गुणस्थानानुसार ज्ञान भी बढ़ता है – यह किसप्रकार? किसी को चतुर्थ गुणस्थान ही हो तथापि अवधिज्ञान होता है जबकि किसी को बारहवाँ गुणस्थान हो तो भी अवधिज्ञान न हो – ऐसी दशा में गुणस्थान बढ़ने पर ज्ञान शक्ति भी बढ़ती है – यह नियम तो नहीं रहा?

उत्तर – यहाँ स्वज्ञेय को जानने की प्रधानता है, क्योंकि यहाँ मोक्षमार्ग के साधने का प्रकरण है। **मोक्षमार्ग कहीं अवधिज्ञान से नहीं सधता, वह तो सम्यक् मति-श्रुतज्ञान द्वारा स्वज्ञेय को पकड़ने से सधता है और स्वज्ञेय को पकड़ने की ऐसी ज्ञानशक्ति तो गुणस्थान बढ़ने पर नियम से बढ़ती ही है।** चतुर्थ गुणस्थानवाले अवधिज्ञानी की अपेक्षा, अवधिज्ञानरहित बारहवें गुणस्थानवाले जीव के ज्ञान में स्वज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति विशेष बढ़ गई है। स्वज्ञेय की तरफ ढलनेवाला ज्ञान ही मोक्षमार्गरूप प्रयोजन को साधता है।

गुणस्थान प्रमाण ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है, परन्तु एक गुणस्थान में बहुत से जीव हों तो सबका ज्ञान एक-सा नहीं होता और उन सबकी क्रिया भी समान नहीं होती। एक गुणस्थानवर्त्ती अनेक जीवों के ज्ञानादि में तारतम्यता होती है, किन्तु उनकी विरुद्ध जाति नहीं होती। चतुर्थ

गुणस्थान में असंख्य जीव हैं, उनका उदयभाव भिन्न है, फिर भी सभी ज्ञानियों के ज्ञान की जाति तो एक ही है। सभी ज्ञानी जीवों का ज्ञान स्वाश्रय से ही मोक्षमार्ग जानता है; पराश्रय से मोक्षमार्ग माने – ऐसा किसी ज्ञानी का ज्ञान नहीं होता। एक गुणस्थान में सभी ज्ञानियों का औदयिक भाव तथा ज्ञान का क्षायोपशमिक भाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, तथापि उस उदयभाव के आधार से ज्ञान नहीं है, ज्ञान तो स्वज्ञेयानुसार है। स्व-ज्ञेय का ज्ञान सभी ज्ञानियों को होने का नियम है, परन्तु अमुक उदयभाव होना चाहिये अथवा अमुक बाहर का जानपना होना चाहिए – ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं।

इस सम्बन्ध में पं. राजमलजी पाण्डे ने **'समयसार कलश टीका'** में (कलश १३ की टीका) में सरस बात की है। वे कहते हैं :–

"आत्मानुभव परद्रव्य की सहायता से रहित है, इसकारण अपने ही में अपने से आत्मा शुद्ध होता है.... जीववस्तु का जो प्रत्यक्षरूप से आस्वाद, उसको आत्मानुभव – ऐसा कहा जाय अथवा ज्ञानानुभव – ऐसा कहा जाय; दोनों में नामभेद हैं, वस्तुभेद नहीं है; अतः ऐसा जानना कि आत्मानुभव मोक्षमार्ग है। इस प्रसंग में और भी संशय होता है कि कोई जानेगा कि द्वादशांगज्ञान कुछ अपूर्वलब्धि है। उसके प्रति समाधान इसप्रकार है कि द्वादशांगज्ञान भी विकल्प है। उसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है; इसलिये शुद्धात्मानुभूति के होने पर शास्त्र पढ़ने की कुछ अटक नहीं है।"

द्वादशांग भी ऐसा ही कहता है कि शुद्धात्मा में प्रवेश करके जो शुद्धात्मानुभूति हुई, वही मोक्षमार्ग है। जहाँ शुद्धात्मानुभूति हुई, यहाँ फिर कोई नियम या टेक नहीं है कि इतने शास्त्र जानना ही चाहिए अथवा इतने शास्त्र जाने, तभी मोक्षमार्ग बने; विशेष शास्त्र ज्ञान हो या न हो, परन्तु जहाँ शुद्धात्मानुभूति हुई – वहाँ मोक्षमार्ग हो ही गया।

साधक के ज्ञान में कुछ परावलम्बन भी है, परन्तु उससे उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं हो जाता; फिर भी ज्ञानी उस परावलम्बन को मोक्षमार्ग नहीं मानता; शुद्धात्मानुभूतिरूप ज्ञान ही मोक्षमार्ग का साधक है – ऐसा ज्ञानी मानता है। बारह अंग में भी शुद्धात्मानुभूति ही करने का उपदेश है और उसी को जिनशासन कहा गया है। जिसने शुद्धात्मा की अनुभूति की, उसने बारह अंग का सार प्राप्त कर लिया; पश्चात् अमुक शास्त्रों का पठन करना ही पड़े – ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। बारह अंग का ज्ञान हो तो हो, और न हो तो भी स्वसत्ता के अवलम्बनरूप स्वानुभूति से ज्ञाता मोक्षमार्ग को साधता है।

उदयभाव हो, परन्तु उसका अवलम्बन ज्ञानी को नहीं है। उदयभाव अवस्था के प्रमाण में है अवश्य; किन्तु उसके अवलम्बन से ज्ञान नहीं है, ज्ञान तो स्वानुभवप्रमाण है। परसत्तावलम्बनशील ज्ञान – वह परमार्थ नहीं, मोक्षमार्ग नहीं; स्वानुभूतिरूप स्वसत्तावलम्बनशील ज्ञान ही परमार्थ है और वही मोक्षमार्ग है।

अहो! स्वानुभूति की ही महिमा है, यही सच्ची विद्या है: इसके अतिरिक्त बाहर की विद्या अथवा शास्त्रपठन की विद्या मोक्ष की साधक नहीं, स्वसन्मुख झुकनेवाली विद्या ही मोक्ष की साधक है। अरे! ज्ञानी का भी परावलम्बी ज्ञान मोक्ष का साधन नहीं तो अज्ञानी के परावलम्बी ज्ञान की क्या बात करें? भाई! पराश्रयभाव के पहाड़ भी मोक्षमार्ग का उद्भव करने में समर्थ नहीं और स्वालम्बन की कणिका में से ही मोक्षमार्ग का उदय होता है।

इसप्रकार ज्ञानी स्वसत्तावलम्बनशीली ज्ञान को ही मोक्षमार्ग समझता है, उदय से अथवा बाहर के जानपने के अवलम्बन से वह मोक्षमार्ग नहीं मानता। अरे, उदयभाव से या बाहर के जानपने के आधार से गुणस्थान का माप नहीं निकलता; किन्तु अन्दर की शुद्धता के आधार से या स्वसत्ता का अवलम्बन कैसा है – उसके आधार से गुणस्थान का माप निकलता

है। चौथे गुणस्थान में असंख्यात जीव हैं; सामान्यपने तो सबको समान गुणस्थान है, दृष्टि भी सबकी समान है; किन्तु ज्ञान का क्षयोपशम सर्वप्रकार से समान नहीं होता। क्षयोपशमभाव तथा उदयभाव का ऐसा स्वभाव है कि उसमें भिन्न-भिन्न जीवों के बीच में तारतम्यता होती है। क्षायिकभाव में तारतम्यता नहीं होती, उसमें तो एक ही प्रकार होता है। लाखों केवली भगवान तेरहवें गुणस्थान में विराजते हैं; उन सभी का क्षायिकभाव समान है, किन्तु औदयिकभाव में भिन्नता है। चौथे गुणस्थान में स्थित असंख्यात जीवों में से उदयभाव में किसी मनुष्यगति का उदय, किसी के नरकगति का उदय, किसी के हजार योजन की बड़ी अवगाहना का उदय, किसी के एक हाथ जितनी छोटी अवगाहना, किसी के अल्पायु का उदय, किसी की असंख्यात वर्षों की आयु, किसी के असाता और किसी के साता- इसप्रकार अनेक भाँति की विचित्रता होती है। इसीतरह ज्ञान में भी क्षयोपशम की विचित्रता अनेक प्रकार की होती है। अभी साधक को ज्ञान अवस्था में कुछ परावलम्बन भी है, क्योंकि जब तक इन्द्रियज्ञान है, तब तक परावलम्बन भी है; परन्तु उस परावलम्बन में ज्ञानी मोक्षमार्ग नहीं मानता। किसी भी ज्ञानी का ज्ञान ऐसा नहीं होगा कि पराश्रय से मोक्षमार्ग माने। पराश्रितभाव से मोक्षमार्ग माने तो वह ज्ञान 'ज्ञान' नहीं, 'अज्ञान' है, ज्ञानी के ज्ञान में अमुक परावलम्बीपना होने पर भी मिथ्यापना नहीं है, क्योंकि परावलम्बीपने को वह उपादेयरूप अथवा मोक्षमार्ग मानता नहीं। मोक्षमार्ग तो स्वाश्रित ही है – इसप्रकार हेय-ज्ञेय-उपादेय का स्वरूप वह निःशंक जानता है।

उपादेयरूप अपनी शुद्धता, हेयरूप अपनी अशुद्धता और ज्ञेयरूप अन्य छह द्रव्य। यहाँ ज्ञेयरूप 'अन्य छह द्रव्य' कहे; उनमें स्वद्रव्य ज्ञेयरूप तो है, किन्तु उसको उपादेयरूप ग्रहण किया गया है; क्योंकि शुद्धद्रव्य को जाने, तभी तो उपादेय करे न? इसप्रकार उपादेय कहने पर

'ज्ञेयपना' तो आ ही गया अर्थात् मात्र ज्ञेय में उसकी बात नहीं की। हाँ, अन्य जीवादि छह द्रव्य तो मात्र ज्ञेयरूप ही हैं।

ज्ञेयरूप तो सभी तत्त्व हैं। उपादेयरूप शुद्धजीव तथा संवर-निर्जरा-मोक्ष हैं। हेयरूप पुण्य-पाप आस्रव और बन्ध हैं।

अजीवतत्त्व हेय नहीं है, उपादेय भी नहीं है, मात्र ज्ञेय है; अर्थात् जड़कर्म भी वास्तव में हेय-उपादेय नहीं, वह मात्र ज्ञेय है। तथापि उसके आश्रय से होनेवाले परभावों को छुड़ाने के लिए (और स्वद्रव्य का आश्रय कराने के लिए) उपचार से उस अजीव कर्म को 'हेय' भी कदाचित् कह दिया जाता है; वहाँ सचमुच तो परद्रव्य के आश्रय से होनेवाली अशुद्धता का ही हेयपना बताने का आशय है।

अज्ञानी स्वद्रव्य को भूलकर परद्रव्य का ग्रहण-त्याग करना चाहता है, वह विपरीत बुद्धि है; ज्ञानी को पर में ग्रहण-त्याग की बुद्धि नहीं होती। मुझे छोड़ने योग्य यदि कुछ है तो मेरी अशुद्धता और ग्रहण करने योग्य कुछ है तो मेरी शुद्धता। अहा! ऐसी बुद्धि होने पर किसी के ऊपर राग-द्वेष नहीं रहा, किंचित् भी पराश्रयबुद्धि नहीं रही, मात्र निज में ही देखना रह गया। भाई! तू दूसरे अजीव को अथवा पर को छोड़ना चाहता है, सो प्रथम तो वे तुझसे छूटे ही हैं; तथा दूसरे यह कि आकाश के एकक्षेत्र में रहनेरूप उनका संयोग तो सिद्धों के भी है अर्थात् उनके भी नहीं छूटता। जगत में छहों द्रव्य सदाकाल एकक्षेत्रावगाहरूप रहने वाले हैं, इसलिए पर को छोड़ने की तेरी बुद्धि मिथ्या है। इसीप्रकार पर का एक अंश भी कभी तेरे स्वरूप में आता नहीं, इसलिए पर को ग्रहण करने की बुद्धि भी मिथ्या है। ज्ञानी के पर के ग्रहण-त्याग की ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं होती, **ज्ञानी की चाल (पद्धति) तो अनोखी है। उसकी परिणति अन्तर में ग्रहण-त्याग का जो कार्य क्षण-क्षण में कर रही है, वह बाहर से पहिचानने में नहीं आती; वह क्षण-क्षण में शुद्धस्वभाव को ग्रहण करता है और परभावों को छोड़ता है। स्वभाव**

का ग्रहण और परभाव का त्याग – ऐसे ग्रहण-त्याग की क्रिया से वह मोक्ष का साधन कर रहा है, इसीलिए उसे साधक कहा है।

परद्रव्य मुझे अशुद्धता कराते हैं – ऐसा जो मानते हैं, वे परद्रव्य को हेय मानकर द्वेष करते हैं, किन्तु अपनी अशुद्धता को छोड़ने का उपाय नहीं करते। पर के आश्रय से मुझे शुद्धता होती है – ऐसा जो मानते हैं, वे परद्रव्य को उपादेय मानकर उसके राग में रुक जाते हैं; किन्तु स्वद्रव्य का आश्रय करके शुद्धता को नहीं साधते।

इसप्रकार निमित्ताधीन दृष्टि में अटके हुए जीव, स्वभाव का ग्रहण तथा परभाव का त्याग नहीं कर सकते अर्थात् मोक्ष को नहीं साध सकते।

अहो! एक बार यह समझ ले तो वीतरागता प्रकट हो जाय, परिणति स्वाश्रय की तरफ झुककर मोक्षोन्मुख चलने लगे – यह धर्मी की बात है।

पण्डित बनारसीदासजी ने उपादान-निमित्त के दोहे भी रचे हैं। दोहे तो केवल सात ही हैं, किन्तु उसमें स्पष्टता विशेष है। उसमें वे कहते हैं –

"सधै वस्तु असहाय जहाँ, तहाँ निमित्त है कौन?"

जहाँ समस्त वस्तुएँ असहायपने अन्य की सहायता बिना ही सधती हैं, वहाँ निमित्त उनमें क्या करेगा? कुछ भी नहीं। निमित्त कुछ सहायता कर सकता है – ऐसा बनता ही नहीं। जैसे बाह्य निमित्त सहकारी नहीं, वैसे ही मोक्षमार्ग में शुभरागरूप निमित्त भी सहकारी नहीं, वह भी मोक्षमार्ग में बिलकुल अकिंचित्कर है – यह बात विशेषरूप से समझना आवश्यक है।

प्रश्न – जीव की शुद्धता-अशुद्धता में परद्रव्य निमित्त है कि नहीं?

उत्तर – है।

प्रश्न – क्या वह निमित्त हेय है?

उत्तर – नहीं।

प्रश्न – तो क्या निमित्त उपादेय है?

उत्तर – नहीं; अरे! निमित्त हेय भी नहीं, उपादेय भी नहीं; निमित्त तो ज्ञेय हैं।

परद्रव्यरूप जो निमित्त है, वह तो हेय-उपादेय नहीं। यहाँ तो रागादिरूप अशुद्धव्यवहार को भी निमित्त की श्रेणी में रखा है, और शुद्धसद्भूतव्यवहार को ही धर्मी के व्यवहार में परिगणित किया है। यहाँ शुभरागरूप जो निमित्त कहा, वह हेय है; क्योंकि वह अपना अशुद्धभाव है, अतः हेय है – ऐसा अभिप्राय जानना। अशुद्धभाव से मोक्षमार्ग नहीं सधता; शुद्धता की वृद्धि अनुसार ही मोक्षमार्ग साधा जाता है।

अज्ञानी हेय-ज्ञेय-उपादेय को बराबर पहचानता नहीं, अर्थात् हेय-ज्ञेय-उपादेय की शक्ति उसमें नहीं हैं। धर्मी जीव हेयरूप परभावों को हेय जानता है, उपादेयरूप अपने शुद्ध द्रव्य-पर्यायों को उपादेय जानता है और ज्ञेयरूप समस्त पदार्थों को ज्ञेय जानता है; अर्थात् हेय-ज्ञेय-उपादेय के जानने की शक्ति उसके प्रगट हुई है। ज्ञाता की यह शक्ति गुणस्थानानुसार बढ़ती जाती है।

चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का त्याग है, सम्यक्त्व व स्वरूपाचरणरूप शुद्धि प्रकटी है तथा स्वज्ञेय को जाना है।

पाँचवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यान – इन दोनों कषायों का त्याग हुआ है, तथा स्वरूपाचरणचारित्र के उपरान्त देशसंयमचारित्र की शुद्धि प्रकटी है अर्थात् हेय-उपादेय शक्ति बढ़ी है और स्वज्ञेय को पकड़ने की शक्ति भी बढ़ी है।

छठवें-सातवें गुणस्थान में तीन कषायों के त्याग जितनी शक्ति प्रगट ही और संयमदशा के योग्य शुद्धता बढ़ी है। इसप्रकार वहाँ हेय-उपादेय शक्ति बढ़ी है और स्वज्ञेय को पकड़ने की शक्ति विशेषतया वृद्धिगत हुई है।

इसतरह गुणस्थान अनुसार अशुद्धता हेय होती जाती है (छूटती जाती है); शुद्धता उपादेय होती जाती है; इसप्रकार हेय उपादेय शक्ति बढ़ती जाती है और ज्ञान की शक्ति भी बढ़ती जाती है, तथा उस-उस

गुणस्थान के योग्य क्रिया (शुभराग एवं बाह्य क्रिया) होती है। यद्यपि एक गुणस्थान में भी भिन्न-भिन्न अनेक जीवों की अलग-अलग क्रिया होती है, तथापि वह क्रिया उस गुणस्थान के योग्य ही होती है – उससे विरुद्ध नहीं होती। जैसे – करोड़ों मुनि छठवें गुणस्थान में हों, उनमें से कोई स्वाध्याय, कोई ध्यान, कोई आहार, कोई विहार, कोई आलोचना, कोई प्रायश्चित्त, कोई उपदेश, कोई तीर्थवन्दना, कोई जिनस्तवन, कोई दिव्यध्वनि-श्रवण – इत्यादि भिन्न-भिन्न क्रियाओं में प्रवर्तते हों; किन्तु कोई वस्त्र पहनता हो, पात्र में भोजन करता हो, अथवा सदोष आहार लेता हो – ऐसी क्रियायें छट्ठे गुणस्थान में संभव नहीं है।

इसीप्रकार चौथे गुणस्थान में जिनप्रभु की पूजा, मुनिराजों आदि को आहारदान, स्वाध्याय, शास्त्रश्रवणादि शुभकार्य तथा व्यापार-आरम्भादि अशुभकार्य, यदाकदा स्वरूप का ध्यान आदि क्रियायें होती हैं, किन्तु कुदेव-कुगुरु का सेवन, बुद्धिपूर्वक त्रसहिंसा अथवा मांस-भक्षणादि क्रियायें संभव नहीं हैं। इसप्रकार राग और बाह्य क्रियायें यद्यपि निमित्त हैं, तथापि वे गुणस्थान के अनुसार होती हैं।

तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञानी प्रभु के योग का कम्पन, दिव्यध्वनि, गगन में मंगलविहार आदि क्रियायें होती हैं; किन्तु वहाँ रोग, आहार अथवा भूमिगमन जैसी क्रियायें नहीं होती। जिस भूमिका में जैसी क्रिया और जैसा राग संभव न हो, वैसी क्रिया और वैसा राग वहाँ माने तो उसको उस भूमिका का भी सच्चा ज्ञान नहीं है; और उस भूमिका के योग्य होनेवाले निमित्तों की भी सच्ची पहचान नहीं है।

अब हेय के सम्बन्ध में सुनिये :– जिस भूमिका में जिसप्रकार की अशुद्धता शेष हो, उसे वहाँ हेयरूप जाने; परन्तु उस भूमिका में जिसप्रकार की अशुद्धता का अभाव ही हो, वहाँ हेय किसको करना? जैसे छठवें गुणस्थान में मिथ्यात्व-अव्रतादि भाव छूट ही चुके हैं अर्थात् अब उनका

छोड़ना क्या? इसलिये वहाँ हेयरूप में उन अव्रतादि को नहीं लेना; अपितु उस भूमिका में जो महाव्रतादि सम्बन्धी शुभराग विद्यमान है – वर्त्त रहा है, वह राग ही वहाँ हेयरूप है। कारण कि छोड़नेयोग्य तो निज में होनेवाली – रहनेवाली अशुद्धता है, किन्तु अपने में जो अशुद्धता है ही नहीं, उसको क्या छोड़ना? इसलिये हेयपना भी गुणस्थान अनुसार जानना। केवली भगवन्त को अब कोई मिथ्यात्व अथवा रागादिक को हेय करना नहीं रहा, उनके तो वे भाव छूट ही चुके हैं; उनका छोड़ना क्या? इसतरह सर्व गुणस्थानों में जो अशुद्धता विद्यमान हो, उसका ही हेयपना समझना। **जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे हेयरूप भाव घटते जाते हैं और उपादेयरूप भाव बढ़ते जाते हैं।** अन्त में हेयरूप समस्त भाव छूटकर, सर्वथा प्रकार से उपादेय – ऐसी सिद्धदशा प्रगट होती है। फिर वहाँ हेय-उपादेयपने की कोई प्रवृत्ति शेष नहीं रहती – वहाँ कृतकृत्यपना है।

देखो, जैसे-जैसे हेय-उपादेयशक्ति बढ़े, तदनुसार गुणस्थान भी बढ़ता है – ऐसा कहा। हेय-उपादेयरूप तो अपने अशुद्ध-शुद्धभाव ही कहे; किन्तु परद्रव्य के ग्रहण-त्यागानुसार गुणस्थान बढ़ता है – ऐसा नहीं कहा। वस्त्रादि त्यागे, इसलिए गुणस्थान बढ़ गया – ऐसा नियम नहीं है; अपितु मिथ्यात्वादि परभाव छोड़ने के प्रमाण में ही गुणस्थान बढ़ता है। गुणस्थान बढ़ने पर उस-उस गुणस्थान अनुसार बाह्य त्याग (जैसे छठवें गुणस्थान में वस्त्रादि का त्याग) तो सहजरूप से स्वयं होता है; उस त्याग का कर्तृत्व आत्मा को नहीं है, आत्मा के तो उसका मात्र ज्ञातृत्व ही है। आत्मा को वह बाह्य त्याग ज्ञेयपने है, उपादेयपने नहीं।

हेय-ज्ञेय-उपादेय सम्बन्धी ज्ञाता के विचार तो ऐसे ही होते हैं, इससे विरुद्ध विचार हों तो वे अज्ञानी के विचार हैं। मोक्षमार्ग कहीं दो प्रकार का नहीं है, मोक्षमार्ग तो एक ही प्रकार का है; स्वाश्रित-भावरूप एक ही

प्रकार का मोक्षमार्ग है, पराश्रितभाव वह मोक्षमार्ग नहीं है। पराश्रितभाव को मोक्षमार्ग माननेवाले की चाल मोक्षमार्ग से विपरीत है। स्वाश्रित मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुये **समयसार गाथा २७६-२७७** में कहा है कि – आचारांग का ज्ञान, नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा अथवा छह जीवनिकाय की दया का शुभपरिणामरूप व्यवहारचारित्र – ऐसे जो पराश्रितभाव, उनके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग मानने में दोष आता है; क्योंकि ऐसे पराश्रित ज्ञानादिभाव अज्ञानी के भी होते हैं, किन्तु उसके मोक्षमार्ग नहीं होता। ज्ञानी के ऊपरी दशा में ऐसे पराश्रितभाव नहीं होते तो भी मोक्षमार्ग होता है, अतः पराश्रितभावों में मोक्षमार्ग है नहीं। **शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आश्रय है और वहाँ अवश्य मोक्षमार्ग है। जहाँ शुद्धात्मा का आश्रय नहीं है, वहाँ मोक्षमार्ग भी नहीं है। इसप्रकार मोक्षमार्ग स्वाश्रित ही है, पराश्रित नहीं; अतः पराश्रित ऐसा व्यवहार निषेध करने योग्य है, हेय है।** स्वसत्ता के अवलम्बन से ही धर्मी जीव मोक्षमार्ग को साधता है, परावलम्बी ज्ञानादि को मोक्षमार्ग नहीं मानता।

अरे जीव! तेरी ज्ञानधारा में भी जितना परावलम्बन है, वह मोक्ष का कारण नहीं है तो फिर सर्वथा परावलम्बी राग मोक्ष का कारण होगा ही कैसे? और फिर बाह्यनिमित्त तो कहाँ रह गये? अरे, ऐसा दुर्लभ अवसर पाकर भी हे जीव! यदि तूने अपने स्वज्ञेय को नहीं जाना और स्वाश्रय से मोक्षमार्ग नहीं साधा तो तेरा जीवन व्यर्थ है। यह अवसर बीत जाने पर तू पछतायेगा।

प्रश्न – निमित्त और व्यवहार को आप महत्त्व नहीं देते और मात्र अध्यात्म को ही महत्त्व देते हो, किन्तु जगत में अध्यात्म की बात को पूछता ही कौन है? व्यवहार और निमित्त की बात को तो सभी जानते हैं।

जैसे :–

निमित्त कहै मोकों सबै, जानत है जग लोय।
तेरो नाम न जान ही, उपादान को होय?

(भैया भगवतीदास)

उत्तर – भाई, जगत के अज्ञानी ऐसी अध्यात्म बात को भले न जानें, किन्तु जगत के सभी ज्ञानी और सर्वज्ञ तो यह बात बराबर जानते हैं। जैसे –

उपादान कहे रे निमित्त! तू कहा करे गुमान।
मोकों जानें जीव वे, जो हैं सम्यक् ज्ञान।

(भैया भगवतीदास)

जो इस अध्यात्म का स्वरूप जानते हैं, वे ही मुक्ति को पाते हैं; अज्ञानी को तो निश्चय-व्यवहार की कुछ खबर ही नहीं है अर्थात् वह यह बात जानता नहीं है और मानता भी नहीं है। जो जीव यह बात जान लेते हैं, वे अज्ञानी रहते नहीं हैं। यह तो आत्महित की अपूर्व अलौकिक बात है। ऐसे स्वावलम्बी मोक्षमार्ग का स्वरूप जो समझ लें, उसको मोक्षमार्ग प्रगट हुए बिना नहीं रहे। – ❋ –

सम्यग्दृष्टि कैसा है, वह क्यों नहीं डरता?

उसके (सम्यग्दृष्टि के) हृदय में आत्मा का स्वरूप दैदीप्यमान प्रगटरूप से प्रतिभासता है। वह ज्ञानज्योति को लिए आनन्दरस से परिपूर्ण है। वह अपने को साक्षात् पुरुषाकार, अमूर्त्तिक, चैतन्यधातु का पिण्ड, अनन्त अक्षय गुणों से युक्त, चैतन्यदेव ही जानता है। उसके अतिशय से ही वह परद्रव्य के प्रति रंचमात्र भी रागी नहीं होता। वह अपने निजस्वरूप को ज्ञाता-दृष्टा, परद्रव्यों से भिन्न, शाश्वत और अविनाशी जानता है और परद्रव्य को तथा रागादिक को क्षणभंगुर, अशाश्वत, अपने स्वभाव से भलीभाँति भिन्न जानता है – इसलिए सम्यग्ज्ञानी कैसे डरे? **– पण्डित गुमानीरामजी : समाधि-मरणस्वरूप**

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४०

११

अध्यात्मपद्धतिरूप स्वाश्रित मोक्षमार्ग

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि ज्ञानी को भी साधकदशा में परावलम्बी अनेक औदयिकभाव तो होते हैं, ऐसी दशा में वे मोक्षमार्ग क्यों नहीं?

इसके समाधान में पण्डित श्री बनारसीदासजी कहते हैं कि :–

उस ज्ञान को सहकारभूत-निमित्तभूत अनेक प्रकार के औदयिकभाव होते हैं। ज्ञानी उन औदयिकभावों का तमाशगीर है; किन्तु उनका कर्त्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है, अवलम्बी नहीं है। इसलिए कोई ऐसा कहे कि सर्वथा अमुक प्रकार का औदयिकभाव हो, तभी अमुक गुणस्थान कहें, तो यह झूठ है; उसने द्रव्य के स्वरूप को सर्वथा प्रकार से जाना नहीं। क्यों? कारण कि अन्य गुणस्थानों की तो बात क्या कहें, केवलियों के भी औदयिक भाव का नानापना – अनेकपना जानना। केवलियों के भी औदयिकभाव एक-सा होता नहीं; किसी केवली के दण्ड-कपाटरूप (समुद्घातरूप) क्रिया का उदय होता है, किसी केवली के वह नहीं होता। इसप्रकार केवलियों में भी उदय की अनेकरूपता है, तो अन्य गुणस्थानों की तो बात क्या कहें? इसलिये औदयिकभावों के भरोसे ज्ञान नहीं है, ज्ञान-स्वशक्तिप्रमाण है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की शक्ति, ज्ञायक-प्रमाण ज्ञान, तथा यथानुभवप्रमाण स्वरूपाचरणचारित्र – यह ज्ञाता का सामर्थ्यपना है।

भूमिकानुसार पराश्रितभाव हों, वह अलग बात है तथा उस

पराश्रितभाव को मोक्षमार्ग मान लेना, अलग बात है। पराश्रितभाव तो ज्ञानी को भी होता है, किन्तु वह उसको मोक्षमार्ग नहीं मान लेता। ज्ञानी तो शुद्धस्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग साधता जाता है और पराश्रितभावों को तोड़ता जाता है; कुछ शेष भी रह जाय तो उसका तमाशगीर रहता है। इक्कीस प्रकार के औदयिकभाव हैं, उनमें से मिथ्यात्वादिरूप औदयिकभाव तो ज्ञानी के होते ही नहीं और शेष जो औदयिकभाव वर्त्तते हैं; वे ज्ञान के ज्ञेयपने वर्त्तते हैं। ज्ञानी उनका कर्त्ता नहीं, उनका भोक्ता भी नहीं, और ज्ञान में उनका अवलम्बन भी नहीं। अन्तर में स्वभाव का अवलम्बन ज्ञान ही मोक्षमार्ग है। बाह्य का जानपना हीन भी हो तो भी ज्ञानी को खेद नहीं और विशेष जानपना हो तो उसकी भी कुछ महत्ता नहीं, क्योंकि बाहर के ज्ञान से मोक्षमार्ग का है नहीं। यहाँ तक कि अवधि-मनःपर्यय ज्ञान हो तो शीघ्र मोक्ष प्राप्त हो, और न हो तो विलम्ब लगे – ऐसा भी कोई नियम नहीं है। मोक्ष का साधन तो स्वानुभूति की उग्रतानुसार ही है।

पुनश्च ज्ञान के साथ (एकपने नहीं, किन्तु सहकारीपने) जो जो औदयिकभाव वर्त्तते हैं, उनको ज्ञानी जानता है; किन्तु उसके उनका आग्रह अथवा पकड़ नहीं है। ऐसा ही राग और ऐसी ही क्रिया हो तो ठीक – ऐसी परावलम्बन की बुद्धि उसके नहीं है। एक ही गुणस्थान में भिन्न-भिन्न विकल्प और भिन्न-भिन्न क्रियायें होती हैं, एक जीव को भी एक ही प्रकार का विकल्प सदा रहता नहीं, अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं। कुन्दकुन्द स्वामी, वीरसेन स्वामी, जिनसेन स्वामी अथवा समन्तभद्र स्वामी – ये सभी मुनिवर छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में – मोक्षमार्ग में वर्त्तते थे। फिर भी उनमें से एक को समयसार जैसा अध्यात्म शास्त्र रचने का विकल्प आया, दूसरे को षट्खण्डागम की धवला टीका जैसे करणानुयोग के शास्त्र निर्माण का विकल्प हुआ, तीसरे को तीर्थंकरों के पुराण की रचना रूप कथानुयोग – प्रथमानुयोग रचने का भाव आया

और चौथे को रत्नकरण्ड श्रावकाचार जैसे चरणानुयोग के उपदेश की वृत्ति उठी; इसप्रकार भिन्न-भिन्न विकल्प होने पर भी भूमिका सबकी एक-सी थी। अमुक विकल्प हो तो ही अमुक गुणस्थान हो – ऐसा विकल्प का प्रतिबन्ध नहीं है। फिर भी जो विकल्प होगा, वह भूमिका का उल्लंघन करे – ऐसा विकल्प (जैसे छठवें गुणस्थान में वस्त्र पहनने आदि का) नहीं होगा। इस संबंध में विस्तृत विवेचन पहले हो चुका है।

साधकभाव की एक ही धार है कि **'अन्तर में चैतन्य की स्वसत्ता का जितना अवलम्बन है, उतना ही साधकभाव है'** ऐसे स्वाश्रयभाव की एक कणिका भी जिसके जागृत नहीं हुई, वह पराश्रय भाव के चाहे जितने पहाड़ खोद डाले तो भी 'खोदा पहाड़ निकली चूहिया' वाली कहावत के अनुसार वह कुछ भी हाथ में प्राप्त नहीं कर सकेगा; उसके तो 'खोदा पराश्रयभाव का पहाड़ और निकली संसाररूपी चूहिया' – यही सिद्ध हो सकेगा।

प्रश्न – कोई स्वच्छन्दी प्रश्न करे कि हमें तो संसार संबंधी खाने-पीने आदि के अशुभविकल्प ही आते हैं, किन्तु धर्मसम्बन्धी भक्ति-पूजन-स्वाध्याय आदि के शुभविकल्प नहीं आते। विकल्प तो भूमिकानुसार आते हैं – ऐसा आपने ही तो ऊपर कहा है।

उत्तर – हाँ, भाई! तेरी भूमिका के लिए वह विकल्प योग्य है, क्योंकि स्वच्छन्दता की भूमिका में तो ऐसा विपरीत ही विकल्प होता है न! धर्म की रुचिवाले जीव की भूमिका में धर्मसम्बन्ध विचार आते हैं और संसार की रुचिवाले जीव की भूमिका में संसार की ओर के पापविचार आते हैं। जिसको संसार के पापभाव का तीव्ररस होगा, उसको धर्म के विचार आवेंगे ही कहाँ से? ऐसे जीव की तो यहाँ बात ही कहाँ है? यहाँ तो साधकजीव किस भाँति मोक्षमार्ग साधता है और उस मोक्षमार्ग के साधनकाल में कैसे-कैसे भाव बीच में आते हैं – उनकी बात है। उसे

मोक्षमार्ग के साधक शुभभाव भी ऊँची श्रेणी के ही होते हैं, तीव्रपाप के भाव तो उसके कभी होते ही नहीं। भूमिका से अविरुद्ध जो शुभ या अशुभभाव होते हैं, उनका भी धर्मीजीव ज्ञाता रहता है, साक्षी रहता है, तटस्थ रहता है; औदयिकभाव के प्रवाह में वह स्वयं प्रवाहित नहीं हो जाता। दो क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव हों – उनमें से एक ध्यान में बैठा हो और एक युद्ध में खड़ा हो; वहाँ युद्ध में खड़े होनेवाले के ऐसी शंका नहीं होती कि अरे, यह ध्यान में और मैं युद्ध में; अतः मेरा सम्यग्दर्शन कुछ शिथिल हो गया होगा? अथवा मेरे ज्ञान में कुछ दोष होगा? – ऐसी शंका सम्यक्त्वी को कदापि होती नहीं। यह निःशंक है कि मेरा सम्यग्दर्शन मेरे स्वभाव के अवलम्बन से है, वह इस औदयिकभाव में मलिन अथवा अभावरूप नहीं हो जायेगा। राग के समय राग से भिन्न एक चैतन्यधारा ज्ञानी के वर्त्त रही है – इस धारा का नाम अध्यात्मपद्धति है और वह सीधी केवलज्ञान में जाकर मिल जाती है।

वाह! **'मोक्षमार्ग स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं'** – यह सिद्धान्त पण्डितजी ने कितना स्पष्ट कर दिया है। जीव का पराश्रित क्षयोपशम भाव भी मोक्ष का कारण नहीं, तो फिर पराश्रित औदयिकभाव मोक्ष का कारण कैसे होगा? बाहर की बात तो निकाल ही डाली, राग भी निकाल दिया और अन्दर का क्षयोपशमभाव भी जो पराश्रित है, उसको भी मोक्षमार्ग में से निकाल दिया; मात्र स्वाश्रितभाव ही मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग के साथ में उदयभाव हो अथवा रागादिरूप अशुद्धव्यवहार हो, किन्तु क्या उनके अवलम्बन से मोक्षमार्ग है? नहीं, सम्यग्दृष्टि को तो उस व्यवहार से मुक्त कहा है। क्योंकि उसको उसका अवलम्बन नहीं है। जिसप्रकार केवलीप्रभु उदय के ज्ञाता हैं; उसीप्रकार छद्मस्थज्ञानी भी उदय का ज्ञाता है, उसकी परिणति उदयभाव को तोड़ती हुई अध्यात्मधारा के बल से आगे बढ़ती जाती है।

देखो तो सही, गृहस्थ श्रावकों को भी अध्यात्म का कैसा प्रेम है और कैसी सरस चर्चा की है। इन पण्डित बनारसीदासजी ने उपादान-निमित्त के सात दोहों की भी रचना करके उपादान की एकदम स्वतंत्रता प्रमाणित की है। कोई कहे कि यह तो उन्होंने उपादान की भावुकतावश लिख दिया है, किन्तु भाई! तू भी तो निमित्त की भावुकतावश उसका नकार कर रहा है। उपादान की स्वतंत्रता का सिद्धान्त तुझे नहीं जमता, नहीं जँचता; इसलिये ही 'भावुकता' कहकर उसको उड़ा रहा है। पण्डितजी ने तो वस्तुस्वरूप का सत्य सिद्धान्त प्रसिद्ध किया है और सत्य सिद्धान्त के पक्ष में भावुकता भी हो तो इसमें क्या दोष है? तुझे तो अभी बाहर की क्रिया (जड़ की क्रिया) का अकर्त्तापना भी नहीं बैठता तो फिर 'सम्यक्त्वी उदयभाव का भी अकर्त्ता है' – यह बात जमेगी ही कैसे? और 'बहिर्लक्षी ज्ञान भी मोक्ष का साधक नहीं है', यह बात तुझे कौन समझायेगा?

धर्मीजीव ज्ञान की स्वसंवेदनधारा से मोक्ष लेगा। जब बाहर की धारा ही मोक्ष नहीं देगी तो फिर राग या जड़ की क्रिया तो मोक्ष कहाँ से देगी?

इतना जान लेने पर बाहर के ज्ञान का विशेष क्षयोपशम हो अथवा पुण्योदय प्रबल हो, तो भी उसका गर्व ज्ञानी को नहीं होता। अरे! जो मेरे मोक्ष का कारण नहीं, उसका गर्व कैसा? स्वानुभव में जो मेरे काम न आवें, उसकी महिमा क्या? द्वादशांग जानता न हो, तथापि ज्ञानी को कदाचित् ऐसी लब्धि उघड़ जाय कि श्रुतकेवली जैसा ही निःशंक उत्तर सूक्ष्मतत्त्वों के सम्बन्ध में भी दे दे, तो भी इस उघाड़ का गर्व या महत्ता ज्ञानी के नहीं है। ज्ञानी की वास्तविक शक्ति स्वसंवेदन में है। स्वसंवेदन को पहचाने, तभी ज्ञानी की सच्ची महिमा का बोध हो सके। किसी ज्ञाता को बारह अंग का ज्ञान न हो तो भी स्वानुभव के बल से केवलज्ञान की उपलब्धि करेगा।

पराश्रित राग या पराश्रित ज्ञान, वह मोक्षमार्ग नहीं है; स्वानुभूति का सामर्थ्य ही मोक्षमार्ग है। पराश्रयभावशून्य मोक्षमार्ग ज्ञाता ही साध सकता है, अज्ञानी तो उसे जान भी नहीं सकता। **अहो! यह तो अर्हन्तों का – शूरवीरों का मार्ग है, यह कायरों का मार्ग नहीं है। समस्त परभावों को हेय करके और शुद्धता को उपादेय करके मोक्षमार्ग में स्थिति प्राप्त करना – स्वाश्रय करनेवाले शूरों का ही कार्य है, पराश्रय करनेवाले कायरों का नहीं।** वीतरागी मोक्षमार्ग का डंका पीटते हुए सन्त कहते हैं कि अरे, राग को धर्म मानने वाले कायरों! तुम्हें चैतन्य का वीतरागमार्ग नहीं मिल सकता, चैतन्य को साधने का स्वाधीन पुरुषार्थ तुम प्रगट नहीं कर सकते। स्वाधीन चैतन्य का तुम्हारा पुरुषार्थ कहाँ गया? तुम धर्म करने निकले हो तो चैतन्यशक्ति का शौर्य अपने में प्रगट करो; इस वीतरागी वीरता में ही मोक्षमार्ग सधेगा। व्यवहार की रुचि की उपस्थिति में जीव को अन्तरस्वभाव में जाने की उमंग नहीं आती। अतः राग का रस छोड़कर चैतन्यस्वभाव का उत्साह करो, जिससे स्वसत्ता के अवलम्बन की तरफ ज्ञान झुके और मोक्षमार्ग सधे। अहो! ऐसे स्वानुभवज्ञान से मोक्षमार्ग को साधनेवाले ज्ञानी की महिमा की क्या बात? इसकी दशा को पहिचानने वाला जीव निहाल हो गया है।

देखो, इन पण्डित बनारसीदासजी ने इस वचनिका में ज्ञानी की चाल अर्थात् ज्ञानी की दशा कैसी होती है, वह किसप्रकार मोक्षमार्ग साधता है – इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर विवेचन किया है। उन्होंने इसमें ज्ञानी की अध्यात्मपद्धति की महिमा अनेक प्रकार से समझाकर मोक्षमार्ग का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट किया है।

– ✻ –

१२

उपसंहार

अंत में उपसंहार करते हुए कहते हैं कि –

इन बातों का विवरण कहाँ तक लिखें, कहाँ तक कहें? वचनातीत, इन्द्रियातीत, ज्ञानातीत है, इसलिये यह विचार बहुत क्या लिखें? जो ज्ञाता होगा, वह थोड़ा ही लिखा बहुत करके समझेगा। जो अज्ञानी होगा, वह यह चिट्ठी सुनेगा सही; परन्तु समझेगा नहीं। यह वचनिका ज्यों की त्यों सुमतिप्रमाण केवलीवचनानुसारी है। जो इसे सुनेगा, समझेगा, श्रद्धान करेगा – उसे कल्याणकारी है; (यथायोग्य) भाग्यप्रमाण।

अहो, ज्ञाता के सामर्थ्य की महिमा कोई अचिन्त्य है। अध्यात्म-पद्धतिरूप मोक्षमार्ग अर्थात् अन्तर की शुद्धपरिणति, वह वचन अथवा विकल्प से पकड़ी जा सके – ऐसी नहीं है। **'स्वभावोऽतर्क-गोचरः'** – तर्क से स्वभाव का पार नहीं पाया जा सकता, यह तो स्वानुभवगम्य है। अतः कहते हैं कि चाहे जितना विस्तार से लिखें, फिर भी अन्तर में जो महिमा प्रतिभासित हुई है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। जो जीव ज्ञाता होंगे, पात्र होंगे; वे तो थोड़े में भी अन्तरंग का रहस्य पकड़ लेंगे; किन्तु जो अज्ञानी हैं, विपरीत रुचिवाले हैं; वे तो चाहे जितना स्पष्ट और विस्तृत विवेचन किए जाने पर भी समझेंगे नहीं, अन्तर्दृष्टि की यह बात उन्हें हृदयस्थ होगी नहीं। इस चिट्ठी में परमार्थ का रहस्य भरा है, अतः इसे **'परमार्थवचनिका'** कहा है। यह परमार्थवचनिका केवली के वचन अनुसार है और यथायोग्य मेरी सुमति से लिखी गई है। इस चिट्ठी

में लिखित अध्यात्मभावों को जो समझेंगे, उनका अवश्य कल्याण होगा। 'मोक्षमार्ग क्या और बन्धमार्ग क्या'' – ये दोनों ही इसमें स्पष्ट भिन्न बताये गए हैं, तदनुसार ही समझ लेने से सम्यग्दर्शन होकर स्वाश्रित अध्यात्मपद्धति प्रगट होगी अर्थात् मोक्षमार्ग प्रारम्भ होगा – यही अपूर्व कल्याण है।

इस वचनिका के परमार्थ भावों को समझकर सभी जीव अपूर्व कल्याण प्राप्त करें – ऐसी भावना है।

इसप्रकार पण्डित श्री बनारसीदासजी द्वारा लिखित अध्यात्म रस भरपूर '**परमार्थवचनिका**' समाप्त हुई।

– * –

सोई समकिती भवसागर तरतु है

जाके घट प्रगट विवेक गणधर कौ सौ,
हिरवै हरखि महामोह कौ हरतु है।
साचौं सुख मानैं निज महिमा अडोल जानै,
आपु ही मैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है।
जैसैं जल-कर्दम[१] कतकफल[२] भिन्न करै,
तैसैं जीव-अजीव विलछनु[३] करतु है।
आतम सकति साधैं ग्यान को उदौ आपसाधै,
सोई समकिती भवसागर तरतु है॥८॥

– पण्डित बनारसीदासजी,
नाटक समयसार, मंगलाचरण

आध्यात्मिक कविवर पण्डित श्री बनारसीदासजी द्वारा रचित उपादान-निमित्त की चिट्ठी का एक अंश

जहाँ मोक्षमार्ग साधा, वहाँ कहा कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' और ऐसा भी कहा कि 'ज्ञानक्रियाभ्याँ मोक्षः'। उसका विचार-चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थानपर्यन्त मोक्षमार्ग कहा, उसका विवरण-सम्यक्‌रूप ज्ञानधारा, विशुद्धरूप चारित्रधारा। दोनों धारायें मोक्षमार्ग को चलीं; वहाँ ज्ञान से ज्ञान की शुद्धता, क्रिया से क्रिया की शुद्धता है। विशुद्धता में शुद्धता तो यथाख्यातरूप होती है। यदि विशुद्धता में वह नहीं होती तो केवली में ज्ञानगुण शुद्ध होता, क्रिया अशुद्ध रहती; परन्तु ऐसा तो नहीं है। उसमें शुद्धता थी, उससे विशुद्धता हुई है।

यहाँ कोई कहे कि ज्ञान की शुद्धता से क्रिया शुद्ध हुई – सो ऐसा नहीं है। कोई गुण किसी गुण के सहारे नहीं है, सब असहायरूप हैं।

और भी सुन! यदि क्रियापद्धति सर्वथा अशुद्ध होती तो अशुद्धता को इतनी शक्ति नहीं है कि मोक्षमार्ग को चले; इसलिए विशुद्धता में यथाख्यात का अंश है, इसीलिए वह अंश क्रम-क्रम से पूर्ण हुआ।

हे भाई प्रश्न करने वाले! तूने विशुद्धता में शुद्धता मानी या नहीं? यदि तूने वह मानी तो कुछ और कहने का काम नहीं है; यदि तूने नहीं मानी तो तेरा द्रव्य इसीप्रकार परिणत हुआ है, हम क्या करें? यदि मानी तो शाबाश!

– पण्डित बनारसीदासजी : उपादान-निमित्त की चिट्ठी

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३५९)

णमो सिद्धाणं

णमो अरिहंताणं

णमो आइरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्व साहूणं